ISSN 2230-8962

वेदविद्या
VEDAVIDYĀ

मूल्याङ्कित अन्ताराष्ट्रिय शोध-पत्रिका
An International Refereed Research Journal

अङ्क : २३
Vol. XXIII

जनवरी-जून २०१४
January-June 2014

सम्पादक
प्रो. रूप किशोर शास्त्री

महर्षिसान्दीपनिराष्ट्रियवेदविद्याप्रतिष्ठानम् उज्जयिनी
(मानवससाधनविकासमन्त्रालयभारतसर्वकारस्याधीनम्)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ISSN 2230-8962

वेदविद्या

VEDA-VIDYĀ

मूल्याङ्कित-अन्ताराष्ट्रिय-शोध-पत्रिका
An International Refereed Research Journal

अङ्क : २३
Vol. XXIII

जनवरी-जून २०१४
January-June 2014

सम्पादक
प्रो. रूप किशोर शास्त्री
(सचिव)

महर्षि-सान्दीपनि-राष्ट्रिय-वेदविद्या-प्रतिष्ठान
(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार के अधीन)
वेदविद्या मार्ग, चिन्तामण गणेश, पो.ऑ. - जवासिया, उज्जैन ४५६००६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मुख्य-संरक्षक
श्रीमती स्मृति जुबेन ईरानी
(अध्यक्ष, महर्षि-सान्दीपनि-राष्ट्रिय-वेदविद्या-प्रतिष्ठान, तथा
मानव संसाधन विकास मन्त्री, भारत सरकार)

संरक्षक
प्रो. एस. सुदर्शन शर्मा
(उपाध्यक्ष, महर्षि-सान्दीपनि-राष्ट्रिय-वेदविद्या-प्रतिष्ठान)

सम्पादक
प्रो. रूप किशोर शास्त्री
(सचिव, महर्षि-सान्दीपनि-राष्ट्रिय-वेदविद्या-प्रतिष्ठान)

सहसम्पादक
डॉ. देवानन्द शुक्ल (कार्यक्रम अधिकारी)
डॉ. अनूपकुमार मिश्र (सहायक)

अक्षर संयोजक
किशोर कुमार अग्रवाल
श्रीमती मिताली रत्नपारखी

मूल्य
वार्षिक शुल्क २००/-

पत्राचार-सङ्केत
महर्षि-सान्दीपनि-राष्ट्रिय-वेदविद्या-प्रतिष्ठान
वेदविद्या मार्ग, चिन्तामण गणेश, पो.ऑ. - जवासिया, उज्जैन 456006
दूरभाष : (0734) 2502266, 2502254 तथा फैक्स : (0734) 2502253
e-mail : msrvvpujn@gmail.com, Website : msrvvp.nic.in

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विषयानुक्रमणिका

क्र.		पृष्ठ
	सम्पादकीय	i-iv
	संस्कृत-सम्भागः	
१.	**अथर्ववेदे प्राणिविज्ञानम्** – प्रो. राजेश्वर मिश्रः	०१
२.	**ऋग्वेदे वाचः प्रातिष्ठ्यम्** – डॉ. कामदेव झाः	१२
३.	**औपनिषदिकं भाषादर्शनम्** – डॉ. सन्तोष कुमार शुक्लः एवम् ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्यः	२२
४.	**यज्ञानां वैज्ञानिकता** – अशोक कुमार मिश्र	३३
५.	**वर्णानुक्रमेणोपनयनकालविमर्शस्तत्प्रयोजनञ्च** – डॉ. चूडामणिःत्रिवेदी	४१
६.	**वैदिकसंस्कृतवाङ्मये पर्यावरणम्** – डॉ. अनिल प्रताप गिरिः	५१
७.	**वैदकवाङ्मये शब्दतत्त्वचिन्तनम्** – दिनेशकुमारद्विवेदी	५७
८.	**वेदेषु व्रतविमर्शः** – लक्ष्मण पन्थी	६७
९.	**ऋग्वेदीयप्रथमसूक्तस्य सायणस्कन्दस्वामिभाष्ययोः काचित् सङ्क्षिप्ता तुलना** – पियोली पालः	७६
	हिन्दी-सम्भाग	
१०.	**अथर्ववेदीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि में पाश्चात्यविद्वानों का योगदान** – प्रो. रूप किशोर शास्त्री	८२
११.	**अथर्ववेदोक्त इष्टापूर्त्तकर्मफल** – डॉ. सदानन्द त्रिपाठी	९०
१२.	**ऋग्वेद-शाखा-विमर्श** – डॉ. अमलधारी सिंह	१०४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१३. विधिवाक्यार्थ एवं विधि के विविध भेद
– प्रो. सोमनाथ नेने ११९
१४. वैदिकसाहित्य का जातककथाओं पर प्रभाव
– शारदा गौतम १३५
१५. शब्दोत्पत्ति-विमर्श
– प्रचेतस् शास्त्री १४३
१६. वैदिकसाहित्य में सौन्दर्य-अनुशीलन
– सन्त प्रकाश तिवारी १५०

English Section

18. Common Thread Between Science And Vedic Concepts
- Dr. S.R. Verma 166
19. Importance Of Animal – As Reflected In Veda
– Smt. Chaitali Kanjilal 185
20. Water, The Elixir Of Immortality Quotes From Veds And Purans
– Rahul Verma 190

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सम्पादकीयम्

प्रिय सुधिप्रवर पाठको ! वेदसंहिताओं में निहित वेदज्ञान को नैसर्गिक ज्ञान बताया गया है, जिसे परमात्मवाक् के रूप में भारतीय मनीषा ने आदिकाल से ही संस्थापित किया है, इसे स्वतः प्रमाण भी कहा गया है अर्थात् यह किसी के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता अपितु इसी से प्रमाणित होकर अथवा कराकर अपनी-अपनी बात को दूसरों पर उचित या अनुचित रूप से स्थापित करना चाहते हैं, भले ही उन्होंने वेद संहिताएं अर्थसहित न पढ़ी अथवा चिन्तन न की हों । एक तरह से अपने विचार या मत को पुष्ट कराने के लिए वेद को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते, सुने एवं देखे जाते हैं। यह सही है कि वेद प्रमाणस्वरुप होने के कारण सभी के लिए मान्य एवं अन्तिम निर्णयात्मक होते हैं । यद्यपि प्राचीनकाल से ही शास्त्रार्थों, संवादों, प्रश्नोत्तरों एवं विचार प्रस्तुति को सशक्त एवं अन्तिम परिणति बनाने में महनीय भूमिका रही है, जिसका आज कुछ अज्ञानमय विकृत रूप इस समय टेलीविजन चैनलों पर अवतार एवं पूजा करने-कराने, मन्दिर बनाने को लेकर देखने एवं सुनने को मिल रहा है, जहाँ पर अनर्थक बहस में वेद मन्त्रों की दुहाई देकर अपनी-अपनी बात सिद्ध करना प्रदर्शित किया जा रहा है ।

इस प्रकार के प्रकरणों में स्वार्थवशात् वेदमन्त्रों की आड़ लेकर भ्रमित करना एक प्रकार से अज्ञानता ही नहीं वेदज्ञान के प्रति घनघोर अन्याय है । वे भूल जाते हैं कि वेदों में विशुद्ध परमात्म ज्ञान है । जिसमें ढ़ोंग, पाखण्ड, आडम्बर, गुरुडम, अवतारवाद अथवा पाषाणादि जड़ पदार्थ निर्मित प्रतिमापूजन को चारों वेदों में लेशमात्र भी नामोनिशान, उल्लेख अथवा विधान नहीं हैं, अपितु निषेध अवश्य है । यजुर्वेद में इस विषयक स्पष्ट व्यवस्था एवं ज्ञान स्वयं परमात्मवाणी में विद्यमान है - करें चिन्तन वेद के एक-एक शब्द पर -

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भइत्येष मा मा हिꣳसीत्येषा यस्मान्न जातऽ इत्येषः ॥१॥
- यजु० अ० ३२ । मं० ३ ॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्य ॥२॥
- यजु० अ० ४० । मं० ८ ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'पूर्ण' ब्रह्म जो 'अज' है कभी जन्म नहीं लेता, और 'निराकार' जिसकी किसी प्रकार की मूर्ति नहीं, इत्यादि लक्षणयुक्त है, जिसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं, उनका करना ही जिसका 'नामस्मरण' कहाता है। (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, वह (यस्मान्न०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता-पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता है और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक जवान और वृद्ध होता है, (न तस्य०) उस परमेश्वर की 'प्रतिमा' अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सदृश, अर्थात् जिसको तस्वीर कहते हैं, सो किसी प्रकार नहीं है । क्योंकि वह अमूर्त, अनन्त, सीमारहित, निराकार और सब में व्यापक है । इससे निराकार ही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चहिये ॥ [१॥]

कदाचित् कोई शङ्का करे कि - शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है ? तो यह बात समझनी चाहिये कि - जो प्रथम जन्म लेकर शरीर धारण करेगा, और फिर वह वृद्ध होकर मर जायेगा, तब किसकी पूजा करोगे ? इस प्रकार मूर्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध हो गया ।

तथा (स पर्य्यगाच्छु०) - जो परमेश्वर (कविः) सबका जाननेवाला, (मनीषी) सबके मन का साक्षी, (परिभूः) सबके ऊपर विराजमान, और (स्वयंभूः) अनादिस्वरूप है, [याथात०] जो अपनी अनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्य्यगात्) सो सब में व्यापक, (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रमवाला, (अकायम्) सब प्रकार के शरीर से रहित, (अव्रणम्) घाव आदि सब रोगों से रहित, (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धम्) सब दोषों से अलग, और (अपापविद्धम्) सब पापों से अनाबद्ध, इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है, वही सबको उपासना के योग्य है, ऐसा ही सबको मानना चाहिये ॥ [२॥]

जब हम वेद को परम प्रमाण मानते हैं तो उसमें निहित वेदज्ञान एवं वेदविद्या का सर्वथा अनुसरण करना चाहिए । **संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि** यह मन्त्रवाक्य वेद के अनुसार चलने एवं विपरीत आचरण एवं व्यवहार न करने का पवित्र सन्देश स्वयं देता है । मेरा यह मानना निश्चित है कि मात्र वेदज्ञान सम्मत सिद्धान्तों एवम् विद्याओं के पालन करने से भ्रम, सन्देह, अज्ञान, परस्पर विवाद, स्वतः ही ध्वस्त हो जाते हैं । इन दिनों तथाकथित किसी भी मतावम्बी परिवार में जन्मे अथवा रहे किसी व्यक्ति की पूजा या उसको अवतार व भगवान मानकर पूजन करने, मन्दिर बनाने, प्रतिमाओं को

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्थापित करने के साथ-साथ अन्य पूर्व से प्रचलित इस प्रकार की समस्त निर्मूल अवैदिक धारणाओं का पटाक्षेप वेदार्थ को समझने एवं उसके अनुपालन से हो जायेगा । दुःखमयी विडम्बना को तो देखिए - दुहाई, सहारा, नाम तो वेद का लेते है, परन्तु धारणाएं एवं व्यवहार सब अवैदिक हैं ।

उत त्वः पश्यन्नददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्या उशती सुवासाः ॥ ऋग्वेद १०-७१-३

ऋग्वेद के इस मन्त्र का कहना है कि अज्ञानी लोग देखते हुए नहीं देख पाते, सुनते हुए भी श्रवण नहीं कर पाते । जो उस परमात्मा की अमृत वाणी वेदमन्त्रों के रहस्यों को समझता है उसके लिए जैसे सुशोभिता पत्नी अपने समस्त स्वरूप को पति के समक्ष उद् घाटित कर देती है कुछ भी छिपा हुआ नहीं होता, वैसे ही वाक् अपने वास्तविक ज्ञानस्वरूप अमरत्व को उद्घाटित कर देती है ।

इस तरह ऐसे अज्ञानी लोगों को वेद ने नितान्त अज्ञानी ही माना है, भले ही वह कितने भी बड़े धार्मिक का आध्यात्मिक पद पर आसीन हों अथवा कितनी भी विश्व प्रसिद्ध मिथ्या एवं भ्रमात्मक मान्यता में जी रहे हों, वे अपने समस्त अनुयायी अन्धभक्तों सहित घनघोर अन्धकार में डूबे पड़े हैं । न तो वह सज्ज्ञानी गुरु है और ना ही वह भगवान् का अवतार। **गुरु लोभी चेला लालची दोनों खेलें दाव । भवसागर में डूबते बैठ पत्थर की नाव ॥** तथाकथित मिथ्या गुरु, भगवान या अवतार यश एवं धन का लोभी है और अनुयायी शिष्य स्वार्थी । न तो वह तथाकथित भगवान और ना ही वह तथाकथित अनुयायी भक्त । अनुयायी भक्त या पूजक सदाबहार मँगता है, वह अपनी प्रार्थना में माँगता है अपने लिए धन, पुत्र-पुत्री, अदालती विजय, नौकरी, कार, कोठी, पद, बैंक बैलेन्स अथवा किसी रोग का निवारण । क्योंकि पुरुषार्थ चतुष्टय में प्रथम तीन तत्वों - धर्म, अर्थ, काम का कर्ता अथवा अधिपति स्वयं मनुष्य है, जिसे संसार में रहकर कार्य करने होते हैं लेकिन जहाँ तक मोक्ष की बात आती है, उसमें तो शुद्ध अन्तःकरण, निर्लोभ, निष्काम आचरण एवं सद् व्यक्तित्व की ही आवश्यकता होती है, वह स्वयं आत्मचिन्तन करके देखले निष्पक्ष एव दुराग्रह रहित होकर, उसे तत्काल पता चल जायेगा कि वास्तव में मैं अज्ञानी हूँ मूँढ हूँ, लक्ष्य विहीन हूँ और नश्वर चीजों का मात्र सदाबहार मँगता या भिखारी हूँ ।

आपके हस्तगत इस वेदविद्या के अङ्क में वेदज्ञान विषयक अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हैं, वेदज्ञान के विविध बिन्दुओं, पहलुओं एवं विषयों पर प्रतिष्ठान द्वारा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रकाशित यह शोध-पत्रिका विश्व में एक मात्र ऐसा रिसर्च जर्नल है जो वेदविद्या का वस्तुतः प्रतिनिधित्व करता है। जिन वेदज्ञान मनीषियों के मूल्याङ्कित लेखों को इस शोध-पत्रिका में स्थान मिल पाया है निश्चय ही ये शोध लेख आपके चिन्तन एवम् मनन की सुतराम अपेक्षा रखते हैं। सम्पूर्णतया एतद्विषयक गुणवत्ता एवं स्तर बनाये रखना हमारा प्रथम उद्देश्य है, यही कारण है इसकी प्रतिष्ठा में नित्यशः वृद्धि हुई है। प्रमाणपुरस्सर शोधपरक लेखों का आपके द्वारा अध्ययन हो और उनका आपको ज्ञानिक लाभ भी मिले, यही हमारा एकीकृत लक्ष्य है, इस लक्ष्य की प्रगति में उन समस्त शोध लेखों के लेखकों को बधाई देता हूँ अभिनन्दन करता हूँ, जिन्होंने पाठकों, शोधार्थियों, मनीषियों एवं विद्वानों के शोध चिन्तन एवं ज्ञानवृद्धि में वैभव प्रदान करने में अपना अप्रतिम योगदान दिया है ।

प्रो. रूप किशोर शास्त्री
सचिव
महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान,
वेदविद्या मार्ग, चिन्तामण गणेश, उज्जैन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

अथर्ववेदे प्राणिविज्ञानम्

प्रो. राजेश्वर मिश्रः

सर्वविधानां ज्ञानविज्ञानानामाकरो वेद इति सुविदितमेव । भारतीयैः वैदेशिकैश्च विद्वद्भिर्वेदा एव सर्वविद्यानां स्रोतांसि स्वीक्रियन्ते । सामाजिकाध्यात्मिक-विषयेभ्योऽतिरिक्तं वेदेषु - कृषि - जीव - शिल्प - ज्योतिष - भौतिक - रसायन - वनस्पत्यादिविज्ञानविषयिणी सामग्री अप्युपलभ्यते । शान्तिपौष्टिकाभिचारादिकर्म-प्रतिपादकत्वादैहिकामुष्मिकफलप्रदोऽथर्ववेदो वेदेषु सर्वेषु महत्त्वपूर्णं स्थानं भजते । अथर्ववेदभाष्योपोद्घाते वेदभाष्यकार आचार्यसायणोऽपि वेदस्यास्य महत्त्वं स्वीकरोति [१] बहुविषयैः समन्वितेऽथर्ववेदे प्राणिविज्ञानविषयेऽपि प्रभूतं विवरणं प्राप्यते। वेदेऽस्मिन् बहुविधानां जीवानां नामानि गुण-कर्म-प्रकृत्यादिदृष्ट्या तेषां वर्गीकरणं जीवानां चिकित्सा-संरक्षण-संवर्धनोपयोगितविषयेष्वपि तद्विषयकानि महत्त्वपूर्णानि तथ्यान्युद्घाटितानि सन्ति । तेषां विवेचनमत्रापेक्षितं वर्तते ।

अथर्ववेदे जीवानामनेकविधं वर्गीकरणं दृश्यते । कुत्रचिद् ग्राम्यारण्यपशूना-मुल्लेखः प्राप्यते ।[२] वर्गीकरणमेतद् काठक-मैत्रायणीसंहितयोरपि कृतं वर्तते ।[३] परं खगानां गणना पशुवर्गे कुर्वन् कुत्रचित्तु ग्राम्यारण्यवायव्यपशुरूपेण तेषां परिगणना कृतोपलभ्यते।[४] ऋग्वेदे यजुर्वेदे चैते त्रिविधाः पशव उल्लिखिताः।[५] ग्राम्ये भवा

---

[१] अथर्वभाष्ये, उपोद्घाते श्लोक : १० व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम् ।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति ॥

[२] अथर्व, ३.३१.३ : वि ग्राम्याः पशवं आरण्यैर्व्यापस्तृष्णायासरन् ।

[३] काठ.सं. १३.१२.; मैत्रा. सं. २.२.३; ३.९.७

[४] अथर्व. १९.६.१४ : पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।

[५] ऋ., १०.९०.८; यजु. ३१.६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गवादयः पशवः सर्वरूपान्विता विविधरूपाश्च बहुधा सन्तोऽप्यथर्ववेद एकरूपा उच्यन्ते।[६] वस्तुत वर्ण-रूप-आकृतिभेदैश्च पशवो विविधाः सन्ति परं पशुत्वजातिदृशां अथ च कार्य-व्यवहारदृशा त एकरूपाः स्वीक्रियन्ते । सम्भवतोऽत्रर्षीणामेष एवाभिप्रायः । अथर्ववेदे ग्राम्यपशूनां सङ्ख्यैकत्र पञ्चोल्लिखिता-गवाश्वाजाविपुरुषा इति।[७] परमन्यत्र तेषां सप्त सङ्ख्या परिकीर्तिता ।[८] आचार्यसायणस्य मते ते गवाश्वाजाविपुरुषगर्दभोष्ट्राख्याः सन्ति ।[९] यजुर्वेदस्य काठक-तैत्तिरीय-मैत्रायणी-माध्यन्दिनसंहितासु शतपथब्राह्मणे च पञ्चग्राम्यपशवः स्वीकृताः।[१०] शतपथ-ब्राह्मणेऽन्यत्र सप्त ग्राम्याः सप्तारण्याः पशवो मताः ।[११] अथर्ववेदे कुत्रचित्तु पार्थिवाः दिव्याः जीवा उल्लिखिताः । निवासस्थानभेदात् पुनस्तेषां भेदद्वयं कृतम्- ग्राम्या आरण्याश्च । सपक्षत्वादपक्षत्वाच्च पुनश्चैतेषां विभागद्वयं विहितमपक्षाः पक्षवन्तश्च ।[१२] अन्यत्र च शरीरसंरचनादृशा तेषां जीवानां विभाजनमृषिभिर्द्विपाद्-चतुष्पाद्-उभयादतः पशव इति कृतम् ।[१३] वेदेऽस्मिन्नुल्लिखितानां जीवजन्तूनां विवेचनं जीवविज्ञानदृशा षड्वर्गेषु कर्तुं शक्यते - (१) जलीया जन्तवः, (२) सरीसृपाः जन्तवः, (३) पक्षिणः, (४) स्तनधारिजन्तवः, (५) वन्यजन्तवः (६) कीटाश्च कृमयश्च ।

अथर्ववेदे स्थले-स्थले जष (झषमत्स्यविशेषः)- मत्स्य[१४] - नक्र - कूर्म[१५] -

---

[६] अथर्व. २.३४.४ : ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो हुधैकरूपाः ।
[७] अथर्व, ११.२.९ : पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ।
[८] तदेव, ३.१०.६ : ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ।
[९] तत्रैव सायणभाष्यम् : ग्रामे भवा गोश्वाजाविपुरुषगर्दभोष्ट्राख्याः....।
[१०] द्रष्टव्यः काठ.सं.१६.१७; तैत्ति.सं.४.२.१०.१-४; मैत्रा.सं.२.७.१७;वाज.सं.१३.४७-५१, शत.ब्रा.६.२.१२.।
[११] शत.ब्रा. ३.८.४.१६ : सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः ।
[१२] अथर्व., ११.७(५). २१ : पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
[१३] तदेव. २.३४.१ : पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ; तदेव, १९.६.१२ : उभयादतः।
[१४] तदेव, ११.२.२५ जषा मत्स्या रजसा.....।
[१५] तदेव, ९.४.१६ : ते कुष्ठिकाः सुरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मण्डूक[१६] शकुल (मत्स्यविशेषः)[१७] - शिंशुमार (शिशुमार शोंइस इति भाषायाम्) - अजगर - पुरीकयादयो[१८] जलीयजन्तव उल्लिखिताः । एतेषु जलचरेषु शिंशुमारः समुद्रस्य, मण्डूकः पर्जन्यस्य, मत्स्यो जलस्य, नक्रश्च गह्वरजलस्य संसूचकाः मन्यन्ते।[१९] भूमौ सरणशीलाः सर्पादयो जन्तवः सरीसृपा उच्यन्ते । वेदेऽस्मिन् निवासस्थानस्वरूपप्रकृत्यादिकारणादष्टादशसर्पजातीनामुल्लेखो नाममिः कृतः येन ताः ज्ञात्वा जना आत्मानं रक्षितुं समर्थाः स्युः । एते सर्पाः सन्ति - कैरातः (यत्र किरातजातिः निवसति तस्मिन् वने वास्तव्यः सर्पः), पृश्निः (चित्रलः सर्पः), उपतृण्यः (तृणेषु गूढः), बभ्रुः (बभ्रवर्णः सर्पः), वैमातः (जलीयस्थानेषु वास्तव्यः सर्पः), अपोदकः (मरुभूमौ वास्तव्यः सर्पः), सत्रासाहः (आक्रामकः सर्पः), मन्युः (क्रोधी सर्पः), आलिगी (शरीरे अवलग्यमाना सर्पिणी), विलगी (शरीरं नावलग्यमाना सर्पिणी), उरुगूला (विशालपुच्छधारिणी सर्पिणी), असिक्की (कृष्णवर्णा सर्पिणी), दद्रुषी (यस्या दंशनेन गात्रे दद्रुरुद्भवति), कर्णा (कर्णावती सर्पिणी), श्वावित् (सर्पविशेषः), खनित्रिमा च (भूमौ विवरं निर्मीय निवसमाना सर्पिणी)[२०] ।

एतस्माद्यतिरिक्ताः बहवोऽन्ये सरीसृपाः सर्पविशेषाश्चोल्लिखिताः । सर्प[२१] - अहि[२२] - स्वज[२३] (स्वयमेवोत्पन्नः सर्पः) - श्वित्र (श्वेतवर्णः सर्पः) - पृदाकु (कुत्सित - शब्दकारी सर्पः)[२४] - कसर्णील - दशोनसि[२५] (दशस्थानेषूर्ध्वगतः सर्पविशेषः)-

---

[१६] तदेव ७.१२१ (११६).२ : मण्डूर्कमभ्येऽत्वव्रतः.....।
[१७] तदेव २०.१३६.१ : ..... शंकुलाविव....।
[१८] तदेव ११.२.२५ : शिंशुमारा अजगराः पुरीकया....।
[१९] यजु. २४.२१ : समुद्राय शिशुमारान्.....।
[२०] अथर्व. ५.१३.५-९ ।
[२१] तदेव १२.१.४६ ।
[२२] तदेव ६.६७.२ ।
[२३] तदेव ३.२७.४ : उदीची दिक् सोमोधिपतिः स्वजो रक्षिता...; १०.४.१७
[२४] तदेव, ३.३७.३, ६ ; १०.४.१७ ।
[२५] तदेव १०.४.१७ : स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तृष्टधूम[२६] (परोपद्रवकारि विषज्वालायुक्तः सर्पः) - तृष्टदंश्मा[२७] (तीक्ष्णदंशनकर्मयुक्तः सर्पः) - तिरश्चिराजि (तिर्यगावलययुक्तः सर्पविशेषः) - कल्माषग्रीव[२८] (कृष्णवर्णा ग्रीवा यस्य स सर्पविशेषः) - इत्यादयः सर्पविशेषाश्चाप्युल्लिखिताः । अत्र पैद्व[२९] - वृश्चिक[३०] नामभ्यामन्ययोः सरीसृपयोः सङ्केतोऽपि प्राप्तः । सर्पदंशनप्रकारोऽपि वेदेऽस्मिन् सङ्केतितः । सर्पदंशने यत्र दन्तक्षतं गहनं भवति तत् खातमित्युच्यते, यत्र दन्तक्षतमल्पं भवति तदखातमथ च यत्र सर्पसङ्घट्टनं भवति तत् सक्तमिति कथ्यते ।[३१] चरकसंहितायामेतेषां कृते क्रमशः सर्पितः रदितः सर्पाङ्गाभिहत इति सञ्ज्ञाः प्रदत्ताः।[३२] कतिपयसरीसृपाणां मारणविधिरप्यथर्ववेदे निर्दिष्टा । तदनुसारं दंशनार्थमभ्यागतं वृश्चिकं घनेनाहिञ्च दण्डेन हन्यात् ।[३३]

अथर्ववैदिका ऋषयः शकुनिविज्ञानेऽपि निष्णाता आसन् । अथर्ववेद उल्लिखितानां पक्षिणामवलोकनेनेदं स्वयमेव प्रमाणितं भवति । तत्र हंसः, द्विपाद्, नीलपृष्ठः इत्येते पक्षिविशेषाः स्वीकृताः ।[३४] हंसो विषनिवारकमोषधिमपि जानाति।[३५] एष अद्यः सोममपि पृथक्कर्त्तुं समर्थः ।[३६] शोभनपक्षो वैनतेयोऽप्यत्र 'सुपर्ण'- इति शब्देनोक्तः। अत्रास्य वैशिष्ट्यमप्युद्घाटितम् । तदनुसारमन्यप्राणिघातकं विषमस्य

---

[२६] तदेव १९.४७.८ : अधं रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिम् ।
[२७] तदेव, १२.१.४६
[२८] तदेव ३.२७.२, ५; १०.४.१७
[२९] तदेव, १०.४.५.-७
[३०] तदेव, १२.१.४६ : यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा..... ।
[३१] तदेव ५.१३.१ : खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जंजास ते विषम् ।
[३२] द्रष्टव्यः चरक०, चिकित्सास्थानम्, अध्यायः २३. ।
[३३] अथर्व. १०.४.९ : घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ।
[३४] अथर्व., १२.१.५१ : यां द्विपादः पक्षिणः सम्पतन्ति हंसाः सुपर्णाः ; ऋ. ७.५९.७
[३५] तदेव ८.७.२४ : वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वेप तत्रिणः ।
[३६] यजु. १९.७४; काठ. सं. ३८.१ ; मैत्रा. सं. २.११६.; तैत्ति० ब्रा०, २.६.२.१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कृतेऽन्नवज्जीर्णं भवति ।[३७] एषः 'पाठा' नामौषधेर्ज्ञाताप्युच्यते ।[३८] अस्य वासः पर्वतेषु भवतीति तात्कालिक ऋषिः जानाति स्म ।[३९] मयूरमयूर्योरुल्लेखोऽपि प्राप्यते । शोभनपक्षत्वात् मयूरः प्रशंसनीयोऽस्ति ।[४०] मयूरः मयूरी च सर्पं विशेषेण छेत्तुं समर्थावित्यपि निर्दिष्टम् ।[४१] अथ चाममांसभक्षकस्य गृध्रस्य,[४२] पापनाशकस्य शकुन्तस्य[४३], शुभसूचकस्य शकुनस्य[४४], दिव्यौषधिज्ञस्य रघटपक्षिविशेषस्य[४५], काकस्य[४६], अशुभसङ्केतकयोः कपोतोलूकयोः[४७], चक्रवाकयुगलस्य[४८], कृकवाकस्य (कुक्कुटस्य)[४९], कुरीरिणः[५०], जत्वस्य (वाग्गुद इत्यस्य च)[५१] पक्षिविशेषस्योल्लेखः प्राप्यते ।

वेदत्रयेषु (ऋग्यजुरथर्ववेदेषु) स्तनधारिपशूनां जन्तूनां वा विवरणं प्रायशः प्राप्यते । एते पशवः द्विविधाः - द्विपादाश्चतुष्पादाश्च[५२]; मनुष्याः द्विपादाः जन्तवोऽन्ये च चतुष्पादा इति । पुनश्च स्थानभेदादेते पशवो वर्गद्वये विभक्ताः - ग्राम्या आरण्याश्च (वन्यपशवः) । ग्रामे नगरे वा भवाः पशवो ग्राम्याः कथ्यन्ते । एतेषु श्व[५३] -हस्ति-

---

[३७] अथर्व., ४.६.३., सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विषे प्रथममावयत ।
[३८] तदेव, २.२७.२ : सुपर्णस्त्वान्वविन्दत.....।
[३९] तदेव ५.४.२ : सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि।
[४०] तदेव, ७.१२२ (११७) .१
[४१] तदेव ७.५८ (५६) .७ : अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।
[४२] तदेव, ११.१२ (१०) ८ : आमामादो गृध्राः कुर्णपे - ; ११.२.२; ११.१२ (१०). २४. ।
[४३] तदेव, ११.८ (६).८ : शकुन्तान् पक्षिणो....।
[४४] तदेव, ११.२.२४ : हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि; १२.१.५१; तुल. ऋ. २.४२।
[४५] तदेव, ८.७.२४ :..... या रघटो विदुः...।
[४६] तदेव, ११.११ (९) ९ : ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्तु...।
[४७] तदेव, ६.२९.२ : कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु ; २०.४५.१; २०.१३५.११ ।
[४८] तदेव, १४.२.६४ : इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती ।
[४९] तदेव, ५.३१.२ ; २०.१३६.१० ।
[५०] तदेव, ५.३१.२ :.... यां कुरीरिणि....।
[५१] तदेव, ९.२.२२ : यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो - यजु. २४.२५, मैत्रा. सं., ३.१४.६.।
[५२] तदेव, ६.१०७. १-४ : त्रायमाणे द्विपाच्च सर्व नो रक्ष चतुष्पाद् - ।
[५३] अथर्व. ४.३६.६ ; ७.९५.२; १८.२.११; ४.३७.११ ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(वारि)[५४] - वाजि[५५] - मेष[५६] - कपि[५७] - हस्तिनी[५८] - नकुल[५९] - अजाजावि[६०] - गर्दभ-गर्दभी[६१] - अश्वतराश्वतरी[६२] शवभक्षिक्रोष्टादयः[६३] प्रमुखाः सन्ति; तेषामुल्लेखोऽथर्ववेदे कृतः । ग्राम्यपशुषु गवामृषभाणाञ्च महत्त्वपूर्णं स्थानमासीत् । गावोऽहन्तव्याः सौभाग्यसूचिकाश्च मन्यन्ते स्म । [६४] निस्तेजसः तेजोयुक्तान् विधातुं पयाज्यादिपदार्थानां सम्प्रदाने समर्थत्वाद् गोः अङ्गेषु देवस्थानं स्वीकृत्यासां (गवाम्) विश्वरूपता अङ्गीकृता ।[६५] अत एव ताः (गावः) मातृपदे प्रतिष्ठिताः।[६६] एवञ्चर्षभाः कृषिकार्ये उपयोगिनः सन्ति । एतदर्थमेते वध्रिकर्मणा निर्वीयाः प्रजननाशक्ताश्च करणीया इति निर्दिष्टम्।[६७] देवानामंशावतारत्वादेते दिव्यशक्तिसम्पना अपि मताः ।[६८]

अथर्ववेदे कतिपयवन्यजीवानामपि चर्चा कृतोपलभ्यते । वन्यजीवा अपि वर्गद्वये विभक्ताः । पुरुषादः नरभक्षिणो वा सिंहव्याघ्रादयः तृणभक्षिणः मृगादयश्च ।[६९]

---

[५४] तदेव, २०.५३.२ ; ६.७०.२ ।
[५५] तदेव, ६.९२.१-३; २.३०.५; ८.२.२५ आदि ।
[५६] तदेव, ६.४९.२ : मेष इव सं-- ; ४.४.८. ।
[५७] तदेव, ४.३७.११ ।
[५८] तदेव, २०.५३.२; ६.७०.२. ।
[५९] तदेव, ६.१३९.५; ६.७०.२ ।
[६०] तदेव. ४.१४.१; ६.७०.२ ।
[६१] तदेव, २०.७४.५; १०.१.१४ ।
[६२] तदेव, ४.४.८; ८.८.२२ ।
[६३] तदेव, ११.२.११ ।
[६४] तदेव, ७.७७ (७३).८ : पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ।
[६५] तदेव, ९.१२ (७) १-२६; ९.१२ (७) २५ : एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ।
[६६] तदेव, १०.१०.१८ : वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव ।
[६७] तदेव, ३.९.२ : कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्कावर्हो गवामिव; ६.१३८.३ ।
[६८] तदेव ९.४.५ : देवानां भाग उपनाह - ; ९.४.११,१५ ।
[६९] तदेव, १२.१.४९ ; ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहाः व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वेदेऽस्मिन् सिंह[७०]- व्याघ्र[७१] - द्वीपि[७२] - वृक[७३] - मृग[७४] - ऋक्ष[७५] - उल[७६] - श्वापद[७७] - सूकरादयो[७८] वन्यजीवाः प्रामुख्येन चर्चिताः ।

तदानीन्तनैर्ऋषिभिः कृमीणां कीटानाञ्च निर्देशोऽप्यस्मिन् वेदे कृतः । तेषां वर्गीकरणमतिसूक्ष्मं प्रतीयते । दृष्टादृष्टभेदात् स्थानभेदाच्च कृमयः पञ्चविधाः मताः । ते सन्ति - दृष्टाः, अदृष्टाः, भूमौ सर्पमाणाः कुरूरवाः, विष्टरादिषु तिष्ठन्तोऽल्गण्डवः, तीव्रगामिनः शलुनाश्च। [७९] गुणदृष्ट्या पुनस्ते द्विविधाः परिकीर्तिताः - दुर्णामाः सुनामाश्च। [८०] रोगोत्पादकाः कृमयो दुर्णामाः कथ्यन्ते पोषकाश्च शरीरस्य पुष्टिकारकाश्च कृमयः सुनामा उच्यन्ते । कतिपये कृमयो लोमयुक्ताः मताः[८१] कतिपये चानेकवर्णाः ।[८२] अथर्ववेदे कोक- शर्कु - कष्कष- येवाष- आश्रेष- प्रमीलि - पलीजक- ऋक्षग्रीव- वव्रिवास- मलिम्लुचादयः कृमयः प्रामुख्येन परिगणिताः।[८३] कृमीणामुत्पत्तिस्थानमप्यत्र सङ्केतितम् । जल- पशु- वन- पर्वतौषधि- वनस्पत्यादीनि तेषामुद्भवस्थानानि मतानि।[८४] रोगकृमयः शरीरस्य केषु-केषु भागेषु प्रच्छन्नरूपेण

---

[७०] तदेव, ५.२०.१ ; ८.५.१२; १२.१.४९ आदि ।
[७१] तदेव, ४.३.१ ; ४.८.४ ; ८.५.११ ; १२.१.४९ आदि ।
[७२] अथर्व., ४.८.७ : द्वीपिनमुप्स्वन्तः ; ६.३८.२ ; १२.४९.४ ।
[७३] तदेव, ४.३.१ : - व्याघ्रः पुरुषो वृकः ; ५.८.४ ; ६.३७.१ ; १२.१.४९ ।
[७४] तदेव, ४.३.६ : मूर्णा मृगस्य दन्ता...; ७.२६.२ ।
[७५] तदेव, १२.१.४९ : ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ।
[७६] तदेव, १२.१.४९ : उलं वृकं पृथिवि.....।
[७७] तदेव, ८.५.११ - : श्वपदामिव....; १८.३.५५.... श्वापदः ।
[७८] तदेव, २.२७.२ : सूकरस्त्वाखनन्नसा-; २०.३५.७ : वराहम् ।
[७९] तदेव, २.३१.२ : दृष्टमदृष्टमतृहमथौ कुरूरुमतृहम् ।
अल्गण्डूनत्सर्वान्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ।
[८०] तदेव, ८.६.४ --- दुर्णामा च सुनामा चोभा ।
[८१] तदेव, ८.६.२३ ।
[८२] तदेव, ५.२३.४-५ ।
[८३] तदेव, ५.२३.७-८ ; ८.६.२ :- शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम् ।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥
[८४] तदेव, २.३१.५ : ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तिष्ठन्त्येतदप्यत्र निर्दिष्टम् । एते रोगकृमय आन्त्रेषु, शिरस्यान्तर्भागेषु पार्ष्णिषु च प्रच्छन्नरूपेण वर्तमाना उपदिष्टाः।[८५] एतदव्यतिरिक्तमक्षि - नासा- दन्तादिषु स्थानेषु च रोगकृमयः प्रविष्टाः मन्यन्ते ।[८६] सूक्ष्मदर्शीयन्त्रादीनामभावेऽपि ऋषिभिः कृतेन कृमीनां वर्गीकरणेन देहेषु तेषां गुप्ताधिष्ठानानां ज्ञानेन च स्फुटं प्रतिभाति यदस्मिन्विषये ऋषीणां सूक्ष्मातिसूक्ष्मं ज्ञानमासीत् ।

कीटानां विषयेऽप्याथर्वणिकानामृषीणां ज्ञानं सम्यगासीत् । ते कृमिकीटयोर्विभेदानपि जानन्ति स्म । तत्र भृङ्ग- जतू- वघा (विषधरः, अन्नभक्षकश्च कीटविशेषः) - कुरूरु[८७] - अलिंश - वत्सप[८८] मकक[८९] (मत्सर इति यावत्) - खलज (खले भवः कीटविशेषः)- उरुण्ड- मद्गट[९०] - द्यास्य (उभयोर्पक्षयोर्मुखयुक्तः) - चतुरक्ष - पञ्चपाद[९१] (पञ्चपादयुक्तः कीटविशेषः) - शकधूमज[९२] (गोमयादुत्पन्नकीटः) इत्यादीनां कीटविशेषाणामपि निर्देशः कृतः । अपि च मक्षिका- पिपीलिकयोर्गणनाऽपि कीटेषु कृतोपलभ्यते ।[९३] पिपीलिकाः सर्पमप्यत्तुं समर्था इत्यथर्ववेदीयानां मन्तव्यमस्ति।[९४] कतिपये कृषिविनाशकाः जीवाः कीटाश्चात्र चर्चिता ये धान्यं विनाशयन्ति । एषु जभ्याखुतर्दपतङ्गमचटी (टिड्डी) इति भाषायाम् - व्यद्वर - तर्दापति - वघापति -

---

[८५] तदेव २.३१.४ : अन्वाञ्च्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्ट्यं क्रिमीन्...।
[८६] तदेव, ५.२३.३ : यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति ।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥
[८७] अथर्व. ९.२.२२ : यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो ।
[८८] तदेव, ८.६.१ : दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ।
[८९] तदेव ८.६.१२ : ..... मकंकान् नाशयामसि ।
[९०] तदेव, ८.६.१५ : खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मद्गटाः ।
[९१] तदेव, ८.६.२२ द्यास्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरे...।
[९२] तदेव, ८.६.१५ - द्रष्टव्य उपरि उद्धृतः मन्त्रः ।
[९३] तदेव, ७.५८ (५६) ७ : अदन्ति त्वा पिपीलिका ; ११.२.२ मक्षिकास्ते...।
[९४] तदेव, ७.५८ (५६).७ ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तृष्टम्भोपकसादयः प्रमुखाः सन्ति ।[९५] अनेन प्रतीयते यत्ते कीटादिविषये विशेषेण जानन्ति स्म ।

वेदेऽस्मिन् पशूनां जीवानां वा सूक्ष्मनिरीक्षणं कृत्वैव वैदिकैर्ऋषिभिः तेषां गुणकर्मस्वभावानामपि निरूपणं कृतम् । तेषां मते वर्चस्- तेजो- यशः- पयो- भग- रसादिगुणाः गोषु वर्तन्ते ।[९६] ऋषभा दिव्यशक्तियुक्ता मताः ।[९७] पशूनां घ्राणशक्तिः प्रकृष्टा भवति यया ते भक्ष्याभक्ष्यं परिज्ञातुं समर्थाः ।[९८] एवमेव मयूराः मयूर्यश्च सर्पान् विशेषेण छेत्तुं क्षमाः ; तेषां विषचूषणेऽपि समर्थाः ।[९९] उलूकस्य ध्वनिः श्रवणकटुरशोभनश्च भवति, कपोतस्य च गृहे निवासोऽशुभो भवति।[१००] उलूको रात्रौ जागर्ति उड्डीयति च ।[१०१] उष्ट्रो भारं वोढुं क्षमः, हंसो रोगविषनाशकानामोषधीनां ज्ञाता, मैत्रीकरणे प्रवीणः, मधुरभाषी च मन्यते ।[१०२] सर्वे पक्षिणः पशवश्च विशेषतः- गो- ऽवि- सर्पाजा - नकुल - सूकरादयः सर्वे रोगनाशकविषनाशकौषधीनां ज्ञातारः मताः ।[१०३] यद् विषं समेषां जीवानां घातकं भवति तदेव सर्पाणां भोजनं जीवनञ्चेति प्रतिपादितम् ।[१०४] अथर्ववेदे नकुलस्यैतद् वैशिष्ट्यमुक्तं वर्तते यदसौ सर्पं विच्छिद्य पुनस्तं संयोजयितुं क्षमः ।[१०५] कपोतः कामी पक्षी इति मतः[१०६], पक्वपीलुफलानि श्यामाकञ्चास्य प्रियं भोज्यमित्युक्तम्।[१०७] हस्ती केन प्रकारेण प्रेमप्रदर्शनं करोति

---

[९५] तदेव, ६.५० १-३ ; तुल. छान्दो. उप. १.१०.१ ।
[९६] तदेव, १४.२.५३-५८ ।
[९७] तदेव, ९.४.५, ११,१५ ।
[९८] शत. ब्रा., ११.८.३.१० : यदैवोपजिघ्रन्ति अथ जानन्ति ।
[९९] अथर्व, ७.५८ (५६). ७ : वि वृश्चन्ति मयूर्यः ; तुल. ऋ. १.१९१.१४ ।
[१००] तदेव, ६.२९. १-३ ।
[१०१] तदेव, ८.४.१७-१८ ।
[१०२] अथर्व, ८.७.२४; २०.९१.३ : हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिः....।
[१०३] तदेव, ८.७.२३-२५
[१०४] तदेव, ८.१४.१६ (१०.२९) : तद विषं सर्पा उपजीवन्त्युपजीवनीयो भवति..।
[१०५] तदेव, ६.१३९.५ : यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।
[१०६] तदेव, २०.४५.१ । अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
[१०७] तदेव, २०.१३५.१२ : श्यामाकं पक्वं पीलुं च वारस्मा अकृणोर्बृहुः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इत्यपि ते जानन्ति स्म । तेषां मते प्रेमप्रदर्शनार्थं हस्ती करिण्या पादैः सह स्वपादान् सम्मेल्य गच्छति।[१०८] रोगनिवारणेऽपि जीवानामुपयोगिता स्वीकृता । कृष्णमृगः स्वविषाणेन मातृपितृशरीरादागतं क्षयकुष्ठापस्मारादिकं रोगं नाशयितुं क्षमः ।[१०९] को जीवः कस्माद् जीवाद् बिभेतीति अथर्ववेदस्यैकस्मिन् सूक्ते वर्णितम् । तदनुसारमारण्याः मृगाः पुरुषाद् बिभ्यति[११०] । एवञ्च-अजावयो वृकाद्[१११], पतत्त्रिणः श्येनात् सिंहाच्च पशवो बिभ्यति ।[११२] पक्षिणो नीडं निर्मीय प्रायः कुत्राश्रयन्ति इत्यस्मिन्विषयेऽपि ते जानन्ति स्म । सामान्यतया पक्षिणः शोभनपर्णोपेतं पल्लवितं वृक्षमाश्रयन्ति ।[११३]

एवमेव सूकरः स्वनासया भोजनार्थं नागरमोथादीनि विदारयति[११४]। कपिः सर्वकेशकः भवति[११५] तेजनञ्च खादति[११६] । कपिशुनोर्मध्ये परस्परं वैरं भवति ।[११७] अथर्ववैदिका ऋषयः एतदपि जानन्ति स्म यद् गर्दभः गर्दभी च सिकतास्वेवात्मपरिश्रान्तिमपनेतुं शयाते[११८] । एवञ्च वृश्चिकस्य पुच्छे विषं भवति[११९] न तु आस्ये; परमयमास्येन पुच्छेन चोभाभ्यां प्रहरतीत्यपि ते सुष्ठुरूपेण जानन्ति स्म।[१२०]

---

[१०८] तदेव ६.७०.२ : यथा॑ ह॒स्ती ह॑स्ति॒न्याः प॒देन॑ प॒दमु॒द्यु॒जे...।
[१०९] तदेव, ३.७.१ हरिणस्य॑ रघु॒ष्यदो॑धि शी॒र्षणि॑ भेष॒जम् ।
स क्षे॒त्रिय॑ं वि॒षाणया विषू॒चीन॑मनीनशत् ॥
[११०] तदेव, ५.२१.४ : यथा॑ मृ॒गाः सं॒वि॒जन्त आर॒ण्याः पु॑रु॒षा॒दधि ।
[१११] तदेव, ५.२१.५ : यथा॒ वृका॑दजा॒वयो॒ धाव॑न्ति ब॒हु बि॑भ्य॒तीः ।
[११२] तदेव, ५.२१.६ : यथा॑ श्ये॒नात् प॑त॒त्रिणः॑ सं॒वि॒जन्ते॒....।
[११३] तदेव, २०.१७.४ : वयो॒ न वृ॒क्षं सु॑प॒ला॒शमास॑दन्त्सो॒मास॒ इन्द्र॑....। तुलनीयः. ऋ., १०.४३.४
[११४] अथर्व, २.२७.२ ; ५.१४.१ :.... सू॒क॒रस्त्वा॑खनन्न॒सा....।
[११५] तदेव, ४.३७.११ : क॒पि॒रि॒वैकः॑ कु॒मा॒रः सर्व॑केशकः .....।
[११६] तदेव, ६.४९.१ : क॒पि॒र्बभ॑स्ति॒ तेज॑न॒ं स्वं ज॒रायु॒ गौ॑रिव ।
[११७] तदेव, ३.९.४ : शु॒नः क॒पि॒रि॒व॒ दू॒ष॒णो॒ ब॒न्धु॒रा का॒ब॒वस्य॑ च ।
[११८] तदेव, २०.१३६.२ : विष्व॑ञ्चा व॒स्या वर्धे॑तः॒ सिक॑तास्वे॒व॒ गर्दभौ ।
[११९] तदेव, ७.५८ (५६). ६ : अथ॒ किं पा॒पया॑ऽमुया पुच्छे॑ बिभर्ष्यर्भ॒कम् ।
[१२०] तदेव, ७.५८ (५६). ८ : य उ॒भाभ्या॑ प्र॒हर॑सि पुच्छे॑न चा॒स्येन च ।
आ॒स्ये॑ न ते॑ वि॒षं किमु॒ ते पुच्छ॒धाव॑सत् ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अथर्ववेदे प्राप्तैरुपर्युक्तैरुल्लेखैः स्फुटं प्रतिभाति यत् पुराकाले सूक्ष्मदर्शियन्त्रादीनामभावेऽपि वेदकालिकानामृषीणां प्राणिविषयकं ज्ञानं सम्यक् सूक्ष्मञ्चासीत् । ते च विविधानां जीवानां गुणस्वभावादीनां विज्ञानेन सुपरिचिता आसन् ।

प्रो. राजेश्वर मिश्रः
संस्कृत-विभागः, कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयः,
कुरुक्षेत्रम् - (हरियाणा)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

ऋग्वेदे वाचः प्रातिष्ठ्यम्

डॉ. कामदेव झाः

ऋग्वेदे महन्महत्त्वं प्रतिपादितमस्ति किल वाचस्तत्र नास्ति कश्चन सन्देह इति । ऋग्वेदस्य वाक्सूक्ते तु ऋषिकैव वागस्ति खलु । तत्र तु वैदिकऋषिकाः विविधाः दृश्यन्ते । इत्यनेन ध्वन्यते यत् वेदकाले महिलाः वैदुष्यपूर्णा आसन् । बृहद्देवता[१] ग्रन्थे तु ऋषिकास्तत्र परिगणिताः । तद्यथा- वाक्, श्रद्धा, कामायनी, शची, यमी, इन्द्राणी, अदिति, अपाला, आत्रेयी, शाश्वती, लोपामुद्रा, उर्वशी, घोषा, सूर्या, सावित्री गोधेति विराजन्ते । इयमेव नारी तत्र ऋग्वेदे सुमङ्गलीत्यनेन प्रोक्ता । स्मृतिस्तत्र वेदानुकर्त्री कथ्यते । तत्र स्मृतौ प्रतिपादितं यत् परमात्मना स्वशरीरस्य द्विभागः कृतः । तत्रार्धभागः पुरुषो जातः, अथ चापरः नारीत्वेन प्रथितः ।

अर्धनारीश्वरस्य या परिकल्पना कृताऽस्ति सा खल्वत्र साफल्यमेति । यस्य सङ्केतः कविकुलगुरुणा सर्वादौ स्वग्रन्थे कृत इति । यथोक्तं तत्र रघुवंशे -[२]

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

तुलसीदासोऽपि रामचरितमानसे 'वन्दे वाणीविनायकौ'[३] प्रतिपादयत्येव । वाक् विश्वकर्मऋषित्वेनापि[४] प्रोक्ता । शतपथब्राह्मणेऽपि[५] वाचा सर्वं ततमिति । ऐतरेयब्राह्मणग्रन्थे[६] तु अर्थस्य योनित्वेन प्रोक्तेति वाग् ।

---

[१] बृहद्देवता २.८२-८४
[२] रघुवंशम् १.१
[३] रामचरितमानसे, बालकाण्डे
[४] यजुर्वेदः १३.५८
[५] शतपथब्राह्मणे ८.१.२.९, वाचा हीदं सर्वं कृतम् ।
[६] ऐतरेयब्राह्मणे २.३८, वाग्योनिः ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाचः ये खलु समुपासकाः सन्ति तेषां खलु भिन्नैव गतिरिति । वाचः उपासकाः भवन्ति मृत्युञ्जया इति । ते मृत्युमतिवर्तन्ते[१] ये वै वाचमुपासते । महिमा भिन्न एव भवति खलु वाच इति । यस्योपरि भवति प्रसन्ना तमुपासकन्तु वाणी निजस्वरूपं प्रकटयति । एक एव जनः शृण्वन्नपि न शृणोति, पश्यन्नपि न पश्यति। सैव वाणी यदा प्रसीदति तदा त्वात्मानमपि घटयति प्रकाशयति वेति । यथोक्तं तत्र ऋग्वेदे -

उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशति सुवासाः ॥[२]

शब्दवृषभोऽत्र शब्दं कुर्वाणः मनुष्येषु प्रविष्ट इति । स वृषभः कथमासीत् खलु ? इत्यस्य प्रतिपादनं चित्रमेव कृतं खलु ऋग्वेदे । चत्वारि शृङ्गा इत्यनेन नामाख्यातोपसर्गनिपातश्चेति, त्रयोऽस्य पादा इत्यनेन कालत्रयं गृह्यते, द्वे शीर्षे इत्यनेन नित्यानित्यत्वेन शब्दो द्विविध इति । सप्तहस्तासो इत्यनेन सप्तविभक्तयस्तत्र खलु । तेन शब्दवृषभत्वेन सह सायुज्यमेव मोक्ष इति मनुते । इममेव मन्त्रभावं वीक्ष्य तत्र भगवता भर्तृहरिणोक्तं खलु । यथोक्तं तत्र -

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितं ।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥[३]

मुमुक्षुभिरिष्यते सायुज्यमिति भावः । साधूनामिदमेव लक्ष्यमिति । महाभाष्यकारस्तत्र[४] महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादिति । मन्त्रस्यास्य व्याख्यायामस्यां अम्बाकर्त्री[५] व्याख्याकारस्त्वत्र - चत्वारि शृङ्गा इत्यादयो मन्त्राः पादत्रयशृङ्गचतुष्टयादिकल्पनया ज्ञातस्य कामानां वर्षकत्वाच्च महावृषभत्वेन कल्पितं परब्रह्मस्वरूपमाहुः । येन परब्रह्मरूपेण शब्देन सायुज्यं सम्बन्धः, तादात्म्यमिति

---

[१] हरिवृत्तिः (वाक्यपदीयम् १.१२६)
[२] ऋग्वेदः १०.७१.४
[३] वाक्यपदीयम् १.१३०
[४] महाभाष्यम् १
[५] अम्बाकर्त्री व्याख्या (वा.प. ब्रह्मकाण्डम्), पृ.सं. १९५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यावत्, इष्यते मुमुक्षुभिः, तस्य प्रकाशमानानन्दरूपत्वेन परमपुरुषार्थत्वादिति ।एषः शब्दः मनुष्येषु आविवेश इति । यथा मन्त्रस्तत्र निगदत्यत्र -

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥[१]

ऋग्वेदे एतदप्यत्र प्रत्यपादि यत् कल्याणमयी लक्ष्मीः सदैव वाचि तिष्ठति । वाचः विशोधनं क्रियते । यथा सक्तुं प्रचालनयन्त्रेण शोधयति तद्वदेवात्रापि इति भावः। यथोक्तं तत्र ऋग्वेदे -

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥[२]

वाचः कतिविधं रूपमासीदित्यपि तत्र ऋग्वेदे ध्वन्यत इति । चत्वारि वाक् परिमिता पदानीत्यत्र वाचः चतुर्विधरूपमत्र द्योत्यते । व्याख्यायामस्यां भाष्यकारस्त्वत्र [३] - चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति । महाभाष्यकारवचनेनानेन ध्वन्यते यत् वाचः यत् विविधरूपं भर्तृहरिणा प्रदर्शितं तत् रूपं नैवं समये तस्मिन् परिचितमासीत् ।

भर्तृहरिरेव प्रथमस्तत्र प्रतिपादकः प्रतीयते यः पश्यन्त्यादिरूपत्वेन [४] प्रतिपादयति । ततः परं नागेशेन[५] परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीरूपेण चतुर्विधं निर्दिष्टम् । नागेशस्त्वत्र - परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ॥

एतदप्यत्रावगमनीयं यत् भर्तृहरिस्तु वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डे वाचः त्रिविधरूपमेव सङ्केतयति । कारिकायां तु त्रय्या वाचः परं पदमेव व्याकरोति ।

---

[१] ऋग्वेदः ४.५८.३
[२] तदेव १०.७१.२
[३] महाभाष्यम् प्रथमाह्निके
[४] प्रसङ्गेऽस्मिन् मम पुस्तकं भर्तृहरिदर्शनं द्रष्टव्यमस्ति । (प्रकाशकः - निर्मल बुक एजेन्सी, कुरुक्षेत्रम्)
[५] परमलघुमञ्जूषा (स्फोटनिरूपणम्), पृ. सं. ९१-९२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यथोक्तं तत्र-

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥[१]

भर्तृहरिमते वाचः चतुर्विधं रूपमथवा त्रिविधमेवेत्यत्र विविधानि मतानि संदृश्यन्ते । केचन कथयन्ति यत् भर्तृहरिमते त्रिविधमेव रूपमिति । वाक्यपदीयस्य ग्रन्थस्यास्य काण्डत्रयमेव । एतदर्थं वाचः रूपं त्रिविधमेव । पश्यन्तीवैखर्योः मध्ये भवतीति मध्यमा वाक् याति सार्थक्यमिति भावः । इत्यनेन प्रतिभाति यत् भर्तृहरिमते वाचः त्रिविधमेव रूपं भवेदिति । आचार्यकपिलदेवशास्त्रिणः[२] विचारोऽयं विद्यते यत् भर्तृहरेः वृत्तौ 'परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते[३]' इति तत्र वर्तते । अत एव भर्तृहरिस्तु परामपि स्वीकरोत्येव । प्रसङ्गेऽस्मिन् वृषभदेवस्तु[४] खल्वत्र - परामित्युत्कृष्टामिति । अनेन स्वत एव पूर्वमतं भवति खण्डितमिति । परेति शब्दोऽयम् उत्कृष्टार्थप्रतिपादक इति । आचार्यगौरीनाथशास्त्रिण अपि त्रिविधमेव व्याकुर्वन्तीति भावः । स्वोपज्ञवृत्तौ उद्धृतोऽयं श्लोकोऽपि तत्रोत्पादयति भ्रान्तिमिति । यथोक्तं तत्र-

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥[५]

यत्र-तत्र सूक्ष्मा वागित्यस्य स्थाने परावागिति पाठभेदो दृश्यते । इत्यनेन कारणेन भर्तृहरिमते वाचः चतुर्विधं रूपमुद्घोषितमिति । इमं पाठं वीक्ष्य भावप्रदीप-टीकाकारेण सूर्यनारायणशुक्लेन[६] तु सूक्ष्मा वाग् पश्यन्त्येव किल स्वीकृता ।

---

[१] वा.प. १.१४२
[२] द्रष्टव्यम्, सम्मेलन पत्रिका(डॉ. कपिलदेव शास्त्री)वाणी के चार रूप-परा, पश्यन्ती,मध्यमा, वैखरी,पृ. २३
[३] स्वोपज्ञवृत्ति (वा.प. १.१४) पृ.सं. ३७ (अम्बाकर्त्रीव्याख्या संस्करणे)
[४] पद्धतिटीका, वृषभदेवकृता - पृ.सं. ४८ (अय्यरसम्पादिते संस्करणे)
[५] स्वोपज्ञवृत्ति (वा.प. १.१४२) पृ.सं. २१६ (पं. रघुनाथशर्मकृते संस्करणे)
[६] भावप्रदीपटीका (वा.प. १.१४२) पृ.सं. १५२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाणीविभागविषये कपिलदेव[१] द्विवेदिनः विचारोऽयं भिन्न एव प्रतिभाति । अनेन विदुषा भिन्नमेव वचनं प्रतिपाद्यते । कथनमस्य वर्तते यत् हेलाराजः पुण्यराजः वृषभदेवस्तु एक एव टीकाकार अस्ति । केवलं विचारवैविध्यमुपस्थापयितुं भिन्न-भिन्नं नाम्ना मतानि प्रस्तुतानीति भावः । वस्तुतः विवादस्तु केवलं कारिकायामुद्धृतं त्रय्यावाचः परं पदमिति न । तत्र तु स्वोपज्ञवृत्तौ किलोद्धृतं वचनमिति वीक्ष्य एव । कारिकायां तु केवलं वाचः त्रिविधमेव[२] रूपमुद्घोषितम् । नागेशभट्टस्य[३] कथनं विद्यते यत् परायां प्रकृतिप्रत्यययोरवगतिर्नास्ति खलु । अतएव व्याकरणातीता परेति। अतएव तत्र नोद्धृतं कारिकायामिति भावः । वाक्यपदीयस्य ब्रह्मकाण्डस्य फ्रांसीसीटीकाकर्त्री[४] एम. बियार्दोमहोदयापि भर्तृहरेः कारिकां वीक्ष्य वाचः त्रिविध-रूपमेवोररीकरोति । यद्यपि भर्तृहरिरपि ऋग्वैदिकमन्त्रेण तु परिचित आसीदेव । कारिकायां न कुत्रापि परा वाचः समुल्लेखः कृत इति । ऋग्वेदे तु चत्वारि वाचः रूपाणि वर्णितानि ।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥[५]

वस्तुतः वाणीं विना वाग्व्यवहारो भवत्यसम्भव इति । इयमेव वार्तालापकार्य-सम्पादिका । वाणीं विना काष्ठकुड्यादिवत् भवति मनुष्य इति । स्वोपज्ञवृत्तावपि चोक्तं तत्र - **अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयन्ति देहिनः ।**
तदुत्क्रान्तौ विसञ्ज्ञोयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥[६]

---

[१] अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, पृ.७
[२] सन्दर्भेऽस्मिन् वाणी चतुर्धा त्रिधा वा इत्यत्र भर्तृहरिः, मम लेखो द्रष्टव्यः, (विश्वसंस्कृतम्, जून १९९६)
[३] महाभाष्योद्योतटीका, भा.१, पृ. ३३
[४] Dr. Biaradeau, Vakyapadiya Brahmakand, introduction, P.44
[५] ऋग्वेदः १.१६४.४५
[६] स्वोपज्ञवृत्तिः (वा.प. १.१२६), पृ. १८७ (अम्बाकर्त्रीव्याख्या संस्करणे)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बृहदारण्यकोपनिषदि वाचः महिमा सर्वथा दृश्यते । तत्र किल नारदं प्रति सनत्कुमारस्योपदेशः दर्शनीय अस्ति । तत्र निगदितं यत् वाणी एव तु सत्यासत्य-साध्वसाधु किलाधारभूतेति । यथोक्तं तत्र-

यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति । स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति ।[१]

गोपथब्राह्मणेऽपि वाचः महिमा गीता अस्ति । तत्र वाणी आदिष्टवती यत् अशान्तमश्वमिमं शान्तं कुरुत । तत्र वेदत्रयं पूर्वं वाचाऽऽदिष्टमिति । वेदत्रयं तत्र विफली सञ्जातम् । ततः परं खल्वथर्ववेदेनाश्वः वशीकृत इति । यथोक्तं वर्णितं तत्र-

तान् वागभ्युवाच । अश्वः शाम्येतेति । तथेति तमृग्वेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति । तस्मा अविसृष्टाय महद्भयं ससृजे । स एतां प्रतीचीं दिशं भेजे । स हो वाचा शान्तो न्वयमश्व इति । तं सामवेद एत्वोवाचाहमश्वं शमेयमिति । केन नु त्वं शमिष्यसि । रथन्तरं नाम मे सामा घोर चाक्रूरं च तेनाश्वमभिष्टूयते । तस्मा अथ विसृष्टाय तदेव महद्भयं ससृजे । स एतामुदीचीदिशं भेजे । स हो वाचा शान्तो न्वयमश्व इति ।[२]

वचसः किलोपासकाः मृत्युमतिवर्तन्ते[३] । अत एव निगदितं यत् **'ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते'** । अतएव भर्तृहरिणा निगदितं यत् 'प्रकाशं यमुपासते'।[४]

ऋग्वेदे तु अष्टौमन्त्रास्तत्र केवलं वाचः महिमानं प्रतिपादयन्ति । वाणी खल्वत्राऽऽत्मविवेचनं कुरुते । तत्र प्रथमे मन्त्रे निगदितं यत् वागियं बहुरूपत्वेन

---

[१] छान्दोग्योपनिषद् १.१-२

[२] गोपथब्राह्मणे १.२.१८

[३] वाक्यपदीयम् (१.१२६, स्वोपज्ञवृत्तौ उद्धृतम्) पृ.सं. १८९

[४] वाक्यपदीयम् १.१९, - वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम् ।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विचरति । एकादशरुद्ररूपेणाष्टवसुरूपेण द्वादशाऽऽदित्यरूपेण, विश्वदेवत्वेन विचरतीति भावः । अथ चेयं वाग् मित्रावरुणौ इन्द्रमग्निं चाश्विनीकुमारावपि धारयतीति। यथोक्तं तत्र - अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥[१]

यत् किमपि वाचा क्रियते तत्सर्वं जगतः कारणरूपत्वेन ब्रह्मणा सह सम्भूय रूपवैविध्यं धारयतीति । सायणस्त्वत्र- अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यत् ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ती रुद्रेभी रुद्रैरेकादशभिः । इत्थं भावे तृतीया तदात्मना चरामि।[२]

अत्रैतत् ध्यातव्यमस्ति यत् वाचः खल्वात्मविवेचनमुत्तमपुरुषत्वेन कृतमिति । वैदिकी नारी निश्चप्रचं शक्तियुता वर्तते । धनबलयुक्ता सर्वथा तत्र प्रतिभाति । धनप्रदायिनीयं वागास्ति । ये किलोपासनां कुर्वन्ति वाचः ते तु प्राप्नुवन्ति वित्तमिति । प्रापयित्रीयं धनं खलु । अतएव वेदमन्त्रः करोत्युद्घोषमिति । धनदा बलदेयं वागिति । वेदे नारीरूपेयं वाक् सर्वगुणसम्पन्नेति। यथा वेदमन्त्रस्तत्र प्रस्तौति -

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥[३]

अत्राहं राष्ट्रीति राष्ट्रनिर्मात्री शक्तिरिति।[४] सायणस्त्वत्रप्रसङ्गे - ईश्वर[५] नामैतत् । सर्वत्र जगतः ईश्वरीति । जगतः कारणभूतेति वागिति भावः । उपर्युक्तेन वचनेन प्रतीयते यत् वाक् किलैश्वर्ययुतेति ।

---

[१] ऋग्वेदः १०.१२५.१
[२] सायण भाष्यम् (ऋ. १०.१२५.१)
[३] ऋग्वेदः १०.१२५.३
[४] द्रष्टव्यम्, अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन (डॉ. कपिलदेव द्विवेदी कृते), पृ.सं. २१
[५] सायणभाष्यम् (ऋग्वेदः १०.१२५.३)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाणी तत्रोद्घोषयति यत् सर्वमत्रोपभोगवस्तु तयैव दीयत इति । प्राणिनः भवन्ति प्राणवन्तस्तत्राहमेव करोमि सम्पादनं खलु कार्यस्यास्येति । ये न जानन्ति ममैश्वर्यमिति प्राप्नुवन्ति ते हीनताम् । सैवोपदेष्ट्रीति । यथा मन्त्रस्तत्र व्याकरोति -

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥[१]

वस्तुतः वागियं प्राणरूपा । समस्ता लोकयात्रा वाचैव तु सम्भवति । एतदर्थं मन्त्रस्तत्र निगदति यत् संसारिणः वाणीं विना हीना इति । वाचि यस्याधिकारः स एव भवति वाचस्पतिरिति भावः । एतदर्थमेव वेदे सर्वं निगदितम् । इयं वाणी ब्रह्मपरकं ज्ञानमपि प्रददाति । इयं ब्रह्मोपदेशिका । यदा इयं प्रसीदति तदा तु सर्वस्वं प्रयच्छति। यमुपासकं वागियं कामयते तं तु तेजोवन्तं करोतीति । वाचैव तु लोके मनुष्यः भवतीड्य इति । कृत्स्नमेतत् वाचः महत्त्वमेव । यथा मन्त्रोऽयं व्याकरोति -

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥[२]

वाणी निजोपासकं सदैव रक्षति । यं रक्षितुमिच्छति, तमुग्रं करोति । सायणस्त्वत्र यं[३] कामयते यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तं तं पुरुषमुग्रं कृणोमि । सर्वेभ्योऽधिकं करोमि । तमेव ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि । वस्तुतः वाच अपूर्वा महिमा प्रोक्ता इति । लोकेऽपि तु दृश्यते यत् यस्य वाक् मधुरा शैत्ययुता च भवति स एव सर्वप्रियो भवति । नास्त्यत्र कश्चन सन्देह इति । अयमेव भावस्तत्र प्रतिपादितो वर्तते। वाचैव किल ततं विश्वम् । वाक्यपदीयस्य स्वोपज्ञवृत्तौ निगदितं तदेव तत्र-

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम् ।
अथेद्वाग् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न पदं यच्चनाह ॥[४]

---

[१] ऋग्वेदः, १०.१२५.४
[२] तदेव, ५
[३] सायणभाष्यम् (ऋग्वेदः १०.१२५.५)
[४] वाक्यपदीय स्वोपज्ञवृत्तौ (वा.प. १.१२०) पृ.सं. १७६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नारी न केवलं धनबलयुता वर्तते अपितु शरीरबलयुताऽपि तत्र ऋग्वेदे परिलक्ष्यते । वैदिकी नारी वाक् तु रुद्रस्य कृते प्रत्यञ्चामपि विस्तारयति । इत्यनेन ध्वन्यते यत् वैदिकी नारी सबला नत्वबलेति । तत्कथमत्र समाजे नारी अबलेति शब्देन चोच्यते । वस्तुतः चिन्तनीयोऽयं विषय इति भावः । जनानां कल्याणायापि सैव वाक् शत्रुभिः सह कुरुते युद्धमिति । यथा ऋग्वेदीयो मन्त्रः करोत्यत्र घोषम् । तद्यथा -

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥[१]

मन्त्रस्यास्य व्याख्यायामत्र सायणस्तु[२]- पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय रुद्रस्य । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । महादेवस्य धनुश्चापमहमातनोमि, ज्यया आततं करोमि । वाणी युद्धे शत्रुभिः साकं करोति स्म युद्धमिति वीक्ष्यानुभूयते यत् नारी युद्धकार्ये कृतभूरिपरिश्रमेति। कैकेयी त्वपि दशरथेन साकं युद्धक्षेत्रे गत्वा करोति स्म सहायतामिति । तत्र तया रथस्य चक्रं धृत्वा प्रदर्शितं स्वशक्तित्वमिति । वैदिकमन्त्रमिमं वीक्ष्य रामायणीयं वचः याति सार्थक्यमिति भावः । वाणी धनुर्विद्यायां कुशला किल । अतएव तु सा वाक् द्युलोके पृथिवीलोके व्याप्नोति सर्वमिति । लोकेऽपि बालाः धनुर्विद्यायां दृश्यन्ते प्रवीणा इति । उपर्युक्तं प्रसङ्गं दृष्ट्वा तु सुतरां भवति सिद्धं यत् नारीणां तत्र ऋग्वेदकाले स्वर्णकाल आसीदित्यत्र नास्ति सन्देहः । नारी तु सदा सबलैव किल । इयमेव वाक् प्रेरयति युद्धाय खलु । विश्वस्य कल्याणार्थं तुमुला प्रेरणाशक्तिरिति । एतदर्थं शक्तिराद्येयमिति भावः । वाचः चित्रा एव महिमा खलु । वाक् तु कारणरूपा । इयमेव वाणी कारणभूता किल समुद्रस्य । जलेऽपि वाचः कारणत्वशक्तिरिति । इयमेव वाक् समस्तसृष्टिरूपेषु व्याप्तेति । त्रिलोक-निर्मात्रीरूपा इयमेव वागिति । वाचः उद्घोषोऽयं विद्यते यत् सर्वस्याहं सृष्टिमूलेति

---

[१] ऋग्वेदः १०.१२५.६
[२] सायणभाष्यम् (१०.१२५.६)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भावः । सर्वत्र किल वाचः प्रसाद एव । मम[१] योनिरित्यत्रोद्घोषयति वाक् । इयं खलु कारणभूतशरीरेण स्पृशति सर्वत्र सर्ववस्तूनीति । यथोद्घोषयति मन्त्रः -

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥[२]

मन्त्रास्यास्य घोषस्तत्र विद्यते यत् सर्वभूतेषु इयमेव वाक् सम्प्रविश्य तिष्ठति । पितरमाकाशं[३] किलेयं वाणी जनयति । इयमेव वाक् वायुः इव सर्वभूतेषु प्रविश्य तिष्ठति । वात इव प्रवामीति तत्रोक्त्वा स्पष्टीकरोति निजव्यापकत्वभावमिति । यथोक्तं तत्र - अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिमा सं बभूव ॥[४]

इयमेव वायुरिव भ्रामयति लोकमिति । वस्तुतः मनुष्यो यत् किमपि कुरुते तत्र वाच एव महिमा । सर्वप्रकारकं भोगमपि[५] कुरुते लोकस्तत्र वाच एव महिमा । प्रेरिकाशक्तिरपि इयमेव त्वत्र । इयं किल वाक् ऋग्वेदस्य दशममण्डले किलोत्तमपुरुषत्वेन निजां लीलां वर्णयति । लोकेऽपि दृश्यते यत् वाणीं विना मनुष्यः अर्थहीनः संवादहीनश्चापि । वाचा एव वस्तुतः प्रचलति लोकयात्रा इत्यर्थः।

डॉ. कामदेव झाः
प्राचार्यः, डी.ए.वी. कॉलेज,
पेहवा (कुरुक्षेत्रं) हरियाणा

[१] ऋग्देवः १०.१२५.७
[२] तदेव १०.१२५.७
[३] सायणभाष्यम्, (१०.१२५.७) पितरमाकाशं सुवे ।
[४] ऋग्वेदः १०.१२५.८
[५] (ऋग्वेदः, १०.१२५.४) सायणभाष्ये, योऽन्नमत्ति स भोक्तृशक्तिरूपया मयैवान्नमत्ति ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

औपनिषदकं भाषादर्शनम्

डॉ. सन्तोष कुमार शुक्लः
ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्यः

वाक्तत्त्वचिन्तनेन भारतीयदार्शनिकपरम्परायां महत्त्वपूर्णं स्थानं प्राप्तमस्ति। वाक्यपदीयकारेणाचार्यभर्तृहरिणा अस्मै वाक्तत्त्वायैव शब्दतत्त्वं प्रोक्तम्, यदनादिनिधनमक्षरञ्चास्ति -

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥[१]

अर्थात् अनादिनिधनं विकारशून्यं शब्दतत्त्वमेव ब्रह्म वर्तते। संसारेऽस्मिन् शब्दब्रह्मैव विभिन्नघटपटादिवस्तुरूंपेण प्रतिभासते येन जगतः सर्वाः क्रियाः सम्पाद्यन्ते। एवं प्रकारेण शब्दब्रह्मैव सम्पूर्णजगतः विवर्तोपादानकारणं सिध्यति - **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।"**

आचार्यदण्डिना स्पष्टं स्वकाव्यादर्शग्रन्थे भणितं यत् वाचः प्रसादेनैवास्य जगतः सम्पूर्णलोकव्यवहारः सम्पद्यते -

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥[२]

निरुक्तकारः "वाक्" इत्यस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिं कुर्वाणोऽकथयत्। यत् **"वाक् कस्मात्। वचेः।"**[३]

लौकिकसन्दर्भे "वाक्" (स्त्री.) इति शब्दोऽयं "वच् परिभाषणे" इत्यनेन धातुना सह क्विप्-प्रत्यये जाते दीर्घसम्प्रसारणे च जाते निष्पद्यते। अस्य व्युत्पत्तिः -

---

[१] वाक्यपदीयम् १/१
[२] काव्यादर्शः १/३
[३] निरुक्तम् २/२३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"उच्यतेऽसौऽनया वा।" अस्य शाब्दिकोऽर्थः - 'शब्दः', 'वाणी', 'भाषा', 'लोकोक्तिः', 'देव्याः सरस्वत्याः नाम'।[१] उपनिषद्वाङ्मये "वाक्" शब्दः 'वद् धातुः' (वद् व्यक्तायां वाचि) एवं 'भाष् धातुः' (भाष् व्याख्यायां वाचि) इत्येताभ्यां निष्पन्नो जातः। विभिन्नोपनिषत्सु "वाक्" इत्यस्य शब्दस्य प्रयोगोऽधोलिखितार्थेषु जातोऽस्ति।

(क) वाक् शब्दः। वदन् वाक्।[२]

(ख) अभिव्याहाराय वाक्।[३]

(ग) वदन्तो वाचा।[४]

वाचः भेदचतुष्टयम्

भारतीयभाषाचिन्तने वाचो भेदचतुष्टयं कथितमस्ति - 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा', 'वैखरी' च। सन्दर्भेऽस्मिन् ऋग्वेदस्याधोलिखितमन्त्रः स्रोतस्वरूपेण मन्यते -

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥[५]

नागेशभट्टेन परमलुमञ्जूषायामस्या वाचः स्वरूपवर्णनमधोलिखितकारिकाणां माध्यमेन कृतमस्ति -

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥
वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमाया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते॥

---

[१] शब्दार्थकौस्तुभः पृ. १०३३
[२] बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/७
[३] छान्दोग्योपनिषद् ८/१२/४
[४] छान्दोग्योपनिषद् ५/१/१०, एवं बृहदारण्यकोपनिषद्, ६/१/९, १२
[५] ऋग्वेदः १/१६४/४५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मूलाधारचक्रे विराजमाना प्राणवायुसंस्कारसंयुक्ता कारणबिन्दुस्वरूपा वाक् परा कथ्यते। एषा परावाक् लोकव्यवहारातीता, अत्यन्तसूक्ष्मा, अवयवरहिता, अनपायिनी च वर्तते। एषा योगिभ्यः समाध्यवस्थायां निर्विकल्पकज्ञानस्य कारणमस्ति। यदैषा वाक् वायुप्रेरिता भूत्वा नाभिप्रदेशपर्यन्तमागच्छति, तदा सा "पश्यन्ती" कथ्यते। पश्यन्ती वागपि व्यवहारातीतास्ति। वाक्यपदीयकार इमां वाचं प्रतिभयाभिहितवान्। योगिनामवस्थायामियं सविकल्पकज्ञानविषयो भवति। नाभिप्रदेशात् वायुप्रेरिता भूत्वा हृदुप्रदेशं प्राप्य सा वाक् 'मध्यमा' उच्यते, अस्यां स्थितौ विवक्षितार्थस्य वाचकशब्दो निश्चीयते। मध्यमा बुद्धा विषयो भवति, यतो ह्यस्यामवस्थायामेवार्थो बुद्धिगोचरो भवति तथा तस्य वाचकशब्दस्य निर्धारणं भवति, अतः मध्यमायाः नादः नागेशभट्टेन स्फोटव्यञ्जकः कथितोऽस्ति। हृदयप्रदेशात् वायुप्रेरिता इयं वाक् यदा कण्ठप्रदेशं प्राप्नोति तथा विभिन्नोच्चारणस्थानैः बहिर्निःसरति तदा इयं सर्वसंवेद्या "वैखरी वाक्" कथ्यते।

वैदिकवाङ्मये 'वाक्' एका महती शक्तिरूपेण कथितास्ति। ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य पञ्चविंशत्यधिकैकशततमे सूक्ते वाचः देवतारूपेण स्तुतिः कृतास्ति। अत्र अम्भृण-ऋषेः पुत्र्या वाग्देव्याः महत्त्वं वर्णितमस्ति। इयं वागेव समेषां देवानां प्रेरिकास्ति, तथा ब्रह्मणो व्यवहारशक्तिरूपेण प्रत्येकं कार्यस्य पृष्ठभूमौ वर्तमाना भवति। इन्द्रियाणि सर्वाणि अस्याः कारणादेव नियन्त्रितानि भवन्ति। सर्वेषु वस्तुष्वियमेव व्याप्तास्ति। स्वविश्वरूपे वाक् सर्वव्यापिका, विश्वस्य सर्वपदार्थनिर्मात्री च वर्तते। अस्मिन् सूक्ते वाग्देवी कथयति -

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥[१]

[१] ऋग्वेदः १०/१२५/५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इदं वाक्सूक्तं (ऋक्. १०/१२५) उपनिषदां भाषादर्शनार्थं सर्वथा बीजवत् वर्तते। प्रमुखोपनिषत्सु वाक्तत्त्वचिन्तनाय़ात्यधिकं महत्त्वं प्रदत्तमस्ति। Vedic Concordance इत्यस्य पृष्ठसङ्ख्या ८२९-८३३ इत्यस्यानुसारमुपनिषत्सु "वाक्" शब्दस्य प्रयोगः ३८ (अष्टात्रिंशद्वारम्) जातोऽस्ति।

प्रमुखोपनिषत्सु वाक्-चिन्तनम्

विभिन्नोपनिषत्सु "वाचः" स्वरूपमेवं गुणानां विस्तरेण विवेचनं कृतमस्ति। छान्दोग्योपनिषदि "वाचः" निम्नलिखितस्वरूपं प्रोक्तमस्ति -

"वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेद सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाऽऽकाशञ्चापश्च तेजश्च देवाँश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयाँसि च तृणवनस्पतीञ्श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृद्यज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति।"[1]

अर्थात् "वाक्" जिह्वामूलाद्यष्टस्थानेषु स्थिता वर्णाभिव्यञ्जिका 'इन्द्रियम्' इति अभिधीयते। वर्ण एव नाम्नः कारणमस्ति। अतः नाम्नो 'वाक्' उत्कृष्टास्ति, यतो हि कार्यापेक्षया कारणोत्कृष्टता लोके दृश्यत एव। वागेव "ऋग्वेदाय" अयम् ऋग्वेदोऽस्तीति एवं प्रकारेण विज्ञापयति। वागेव यजुर्वेदम्, अथर्ववेदम्, सामवेदम्, पञ्चमवेदम्, इतिहासपुराणम्, व्याकरणम्, श्राद्धकल्पम्, गणितशास्त्रम्, निधिज्ञानम्, तर्कशास्त्रम्, नीतिशास्त्रम्, निरुक्तम्, वेदविद्याम्, भूतविद्याम्, धनुर्वेदम्, ज्योतिषम्, सङ्गीतशास्त्रम्, द्युलोकम्, पृथ्वीम्, वायुम्, आकाशम्, तेजः, देवम्, मनुष्यम्, पशु-पक्षिणम्, तृण-वनस्पतिम्, श्वपादम्, कीटादिपिपीलिकापर्यन्तम्, धर्मम्, अधर्मञ्च,

[1] छान्दोग्योपनिषद् ७/२/१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सत्यम्, असत्यञ्च, साधुम्, असाधुञ्च विज्ञापयति। संसारे यद् किमपि स्यात् तद् सर्वं वागेव बोधयति। यदि वाक् न स्यात् तर्हि न धर्मबोधो भवेत् न च अधर्मबोधो भवेत्। सत्यं किमसत्यं किं साधुः कः असाधुः कः ? वाचा विना ज्ञातुं न शक्यते। एवं प्रकारेण वागेव समेषां ज्ञानं कारयति।

आचार्यभर्तृहरिणापि वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डे उपर्युक्ततथ्यानामेवाधोलिखित-कारिकायां समर्थनं कृतम् -

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते ॥[१]

अर्थात् संसारे सर्वं ज्ञानं वाचा सह तादात्म्येनैव भाषितं भवति। लोकेऽस्मिन् नास्त्येतादृशं ज्ञानं यत् शब्दसम्बद्धं विना सम्भवेत्।

महाकविर्दण्डी काव्यादर्शे प्रतिपादितवान् यत् यदि वाग्रूपा ज्योतिः इमं संसारं न प्रकाशयेत्, तर्हि इदं भुवनत्रयम् अन्धकारमयं भवेत् -

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥[२]

वृहदारण्यकोपनिषदि प्रज्ञास्वरूपा एवं परमब्रह्मरूपा वाक् मन्यते -

"वागेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत। का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति होवाच। वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायते ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टँ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म।"[३]

---

[१] वाक्यपदीयम् १/११४
[२] काव्यादर्शः १/४
[३] वृहदारण्यकोपनिषद् ४/१/२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् वागेव प्रज्ञास्ति, यतो हि वाचैव बन्धुरवगम्यते। वाचा वै ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदः, इतिहासादयश्च ज्ञायन्ते अतः वागेव परब्रह्मरूपास्ति। बृहदारण्यकोपनिषद्युक्तमस्ति यल्लोके यावन्तः शब्दाः, ध्वन्यादयः सन्ति। सर्वो ध्वनिः "वागेव" अस्ति -

यः कश्च शब्दो वागेव सा।[१]

बृहदारण्यकोपनिषद्शाङ्करभाष्ये कथितमस्ति, यल्लोके प्राणिभिः मुखताल्वादिना अभिव्यज्यमाना यावन्तः वर्णादिरूपशब्दध्वनयः तथा वाद्ययन्त्रैर्मेघादिभिश्च जायमाना ये केऽपि शब्दध्वनयः सन्ति, सर्वो ध्वनिः "वागेव" अस्ति -

यः कश्च लोके शब्दो ध्वनिस्ताल्वादिव्यङ्ग्यः प्राणिभिर्वर्णादि लक्षण इतरो वा वादित्रमेघादिनिमित्तः सर्वो ध्वनिर्वागेव सा।[२]

उपनिषत्सु "वाक्" प्रकाशस्वरूपा कथितास्ति। बृहदारण्यकोपनिषदि प्रोक्तमस्ति। यत् दीप इव वागपि स्वयं प्रकाशिकास्ति। अन्यः कश्चिदपि एनां वाचं प्रकाशयितुं न शक्नोति। अस्याभिप्रायोऽस्ति यत् वाचः कार्यमेव प्रकाशनमस्ति। अस्या उपनिषद एव अन्यस्मिन् स्थले प्रोक्तमस्ति, दिशां ज्ञानस्य कारयित्री प्रकाशिका च वागेवास्ति -

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किं ज्योतिरेवायं पुरुष इतिवागे वास्य ज्योतिर्भवति इति वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥[३]

अर्थात् यदा सूर्यः चन्द्रश्च अस्तं गच्छति, अग्नेः प्रकाशस्याप्यभावो भवति, तदा व्यक्तेः पार्श्वे कस्य प्रकाशो भवति? निःश्चयेनैव प्रकाशोऽयं "वागेव" अस्ति। वाच एव प्रकाशे मनुष्य इतस्ततः भ्रमति, स्वकार्यं सम्पादयति, पुनश्च प्रत्यावर्तितो भवति।

---

[१] बृहदारण्यकोपनिषद् १/५/३

[२] बृहदारण्यकोपनिषद् १/५/३ शाङ्करभाष्यम्

[३] बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कश्चिदपि अन्धकारे स्वहस्तं यदा न पश्यति, तस्मिन् काले यदा ध्वनिर्भवति। तस्य ध्वनिश्रवणेन मानवः तं ध्वनिं प्रति गच्छति। एवं प्रकारेण वागेव दिशां ज्ञानं कारयति।

प्रश्नोपनिषदि चतुर्दशदेवतासु वाक् शरीरधारिणी एका शक्तिर्मन्यते। अत्र भार्गवर्षिणा महर्षिः पिप्पलादः पृच्छ्यते। यत् प्राणिनां शरीरं कति देवताः धारयन्ति? तथा तासु का शरीरमिदं प्रकाशयति? अस्य प्रश्नस्योत्तरे पिप्पलाद आह -

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः॥ [१]

अर्थात् समेषामाधारस्तु आकाशरूपदेवतैवास्ति, परन्तु तस्माज्जायमानः वायुः, अग्निः, जलम्, पृथिवी इति चत्वारो महाभूताप्यस्य शरीरस्य धारिण्यो देवताः सन्ति। इदं स्थूलशरीरम् एतेभ्य एव निर्मितमस्ति। वागादिपञ्चकर्मेन्द्रियाणि, नेत्रादिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि एवं मनसाद्यन्तःकरणचतुष्टयम्, इत्येताः चतुर्दशदेवता एवास्य शरीरस्य प्रकाशकत्वेन कथ्यन्ते।

ध्यातव्यमस्ति यत् वाक्यपदीयकारः 'वाचे' प्रत्यवमर्शिनी कथयन् प्रोक्तवान् यत् यदि नित्यवाग्रूपता न भवेत् तर्हि कस्यचिदपि ज्ञानस्य प्रकाशनमेव न भवितुं शक्नोति -

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ [२]

छान्दोग्योपनिषदि भणितमस्ति यत् "वाक्" तेजस्विनी वर्तते -

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ [३]

---

[१] प्रश्नोपनिषद् २/२
[२] वाक्यपदीयम् १/११५
[३] छान्दोग्योपनिषद् ६/६/५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

छान्दोग्योपनिषदनुसारं मनुष्यैः खाद्यमानं तैलघृतादिकं पदार्थं त्रिधा विभक्तं भवति। तस्य स्थूलतमो भागः अस्थि, मध्यमभागो मज्जा तथा सूक्ष्मभागो वाक् भवति। अग्निना देवतारूपेण वैदिकंसंस्कृतावत्यधिकं महत्त्वं प्राप्तमस्ति। विभिन्नोपनिषत्सु वाक् अग्निशब्देनापि सम्बोधितास्ति। ऐतरेयोपनिषदि भणितमस्ति यत् ब्रह्माण्डे योऽग्निर्वर्तते, स एव पिण्डे 'वाग्स्वरूपा' अस्ति। सृष्टिप्रारम्भेऽग्निर्वाक् भूत्वा पुरुषमुखे प्राविशत् ;-

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्॥[१]

छान्दोग्योपनिषदीश्वरस्य पश्चिमोदगमस्थानरूपेण 'वाक्' अभिहिता तथा वाचेऽग्नेः पर्यायमभिधायास्याः सर्वव्यापकता प्रोक्तास्ति ;-

अथ योऽस्य प्रत्यङ्ङृषिः सोऽपानः सा वाक्सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद॥[२]

छान्दोग्योपनिषदि प्रोक्तमस्ति यत् मानव आहूताग्निर्वर्तते। अस्यामहूतौ वागेव समिदर्थात् हविः, श्वासो धूम्रः, तथा तस्याहवनीयस्याग्नेः अर्चिर्जिह्वा कथ्यते ;-

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ।[३]

बृहदारण्यकोपनिषदि मानवः यज्ञाग्नेर्स्वरूपं मन्यते। अत्र वागैव तस्याग्नेः अर्चित्वेन स्वीकृतास्ति ;-

पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गिराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहूत्यैरेतः सम्भवति।

तैत्तिरीयोपनिषदनुसारं वाग् कर्मेन्द्रियाणां ज्ञानेन्द्रियाणाञ्च सन्धिरूपास्ति ;-

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः। जिह्वा सन्धानम्। इत्यध्यात्मम्॥[१]

---

[१] ऐतरेयोपनिषद् २/४
[२] छान्दोग्योपनिषद् ३/१३/३
[३] छान्दोग्योपनिषद् ५/७/१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

छान्दोग्योपनिषदि व्यानवायुर्वाक् कथ्यते, तथा प्राणापानयोर्सन्धिरूपा प्रोक्तास्ति। यतो हि जनाः प्राणनक्रियामपाणनक्रियाञ्चाकृत्वैव वाणीमुच्चारयन्ति ;-

यो व्यानः स वाक्। तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति।[२]

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्यप्युक्तमस्ति यत् प्राणापानवाग्वोः एवं वाचि परस्परमेतादृशः सम्बन्धो वर्तते, यदैकस्य प्रयोगावस्थायां द्वितीयोत्सर्गो भवति ;-

यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति। यावद्वै पुरुषः प्राणिति न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति।[३]

अस्यामेवोपनिषदि प्राणवायुं ब्रह्मरूपं मत्वा वागपि तत्समा कथितास्ति ;-

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गोप्तृ॥[४]

बृहदारण्यकोपनिषदि कथितमस्ति यत् "वागेव" अत्तिरस्ति, यतो हि वागेन्द्रियेणैवान्नभक्षणं क्रियते ;-

वागेवात्तिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्तिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वस्यान्नं भवति॥[५]

बृहदारण्यकोपनिषदि वाचं धेनु कथयतास्य दिव्यस्वरूपवर्णनं कृतमस्ति ;-

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारञ्च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः॥[६]

---

[१] तैत्तिरीयोपनिषद् १/३/४
[२] छान्दोग्योपनिषद् १/३/३
[३] कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् २/१५
[४] कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् २/१
[५] बृहदारण्यकोपनिषद् २/२/४
[६] बृहदारण्यकोपनिषद् ५/८/१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् वाग्धेनोश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारः, वषट्कारः, हन्तकारः, स्वधाकारश्च सन्ति। अस्या वाग्धेनोर्वृषभः प्राणः कथ्यते तथा मनोऽस्या वत्सो प्रोच्यते।

वाचः कृते बृहदारण्यकोपनिषदि "वसिष्ठा" इत्यभिधानमपि क्रियते यतो हि इयमतिशयेन वसति वासयति वा ;-

वाग्वै वसिष्ठा। वासयत्यतिशयेन वस्ते वेति वसिष्ठा।[१]

तैत्तिरीयोपनिषद्प्रथमवल्लीतृतीयानुवाकव्याख्यायामुदितमस्ति यत् वाचि विलक्षणा शक्तिर्वर्तते। वाचा प्रार्थनां कृत्वा मानवेन शरीरपोषणं तस्योन्नतेः सर्वाः सामग्र्यश्च प्राप्तुं शक्यन्ते, तथा ओङ्कारजपेन परमात्मानं प्राप्तुं शक्नोति। एवं प्रकारेण वाचि शारीरिकात्मविषयकमुन्नतेर्सामर्थ्यं वर्तते। रहस्यमेतज्ज्ञात्वा यो मानवो वाग्शक्तेः यथायोग्यमुपयोगं करोति। सः सर्वाण्यभीष्टफलानि प्राप्तुं समर्थो भवति।

छान्दोग्योपनिषदा पुरुषसारो "वाक्" इत्यभिधीयते ;-

पुरुषस्य वाग्रसः॥[२]

मुण्डकोपनिषद्युदितमस्ति यत् वेदा अपि वाच एव विवृता जाता :-

वाग्विवृत्ताश्च वेदाः॥[३]

छान्दोग्योपनिषदि वाग् सर्वव्यापिनी, वागेव गायत्रीत्यभिहितमस्ति। लोकस्य स्थावरजङ्गमाः प्राणिनः वागेव। एवं प्रकारेण वागेव सर्वभूतमयी वर्तते ;-

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री वाग्वा सर्वं भूतं गायति च त्रायते च॥[४]

विवेचनेनैतदुपनिषत्सु वाक्-तत्त्वस्यात्यधिकं महत्त्वपूर्णं स्थानं परिलक्षितं भवति। प्रस्तुतौपनिषदिकविवेचनेन वाचः विशदस्वरूपम् एवं कार्याणां सम्यक् बोधो

---

[१] बृहदारण्यकोपनिषद् ६/१/२ शाङ्करभाष्यम्
[२] छान्दोग्योपनिषद् १/१/२
[३] मुण्डकोपनिषद् २/१/४
[४] छन्दोग्योपनिषद् ३/१२/१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy. Kathmandu Collection

भवति। प्रमुखोपनिषत्सु वाग् ब्रह्मस्वरूपा, अग्निस्वरूपा, विश्वस्य प्राणिनां मार्गप्रशस्तकारिणी, मानवेषु विराजमाना देवता, प्रकाशिका शक्तिश्च सम्बोधितास्ति। वेदानां साररूपा वागेव कथिता वर्तते। एषा ब्रह्मज्ञानिनां जिज्ञासूनाञ्च कृते साध्यं साधनञ्च वर्तते। वाक् मानवीयचेतनायाः रूपात्मिका निर्देशिका वर्तते। अस्या आधारेणैव प्रत्येकं जीवे स्वान्तःकरणस्यैवं बाह्यजगतो व्यवहारो निर्भरति। शब्दतत्त्वमिदं प्रत्यक्कैतन्येऽभिन्नतया अन्तःसन्निविष्टमस्ति । परसम्बोधनार्थम् इदमेव वाक्तत्त्वं वैखर्या वाचाभिव्यक्तं भवति। उपनिषत्सु वर्णितमस्ति यत् वाक्तत्त्वस्य वस्तुस्वरूपस्य यथार्थज्ञानमेव निःश्रेयसप्रदायकं तत्त्वज्ञानमस्ति। मैत्रायणी-उपनिषदि प्रोक्तमस्ति यत् यः शब्दतत्त्वं जानाति, तेन शब्दतत्त्वज्ञेन परब्रह्म स्वतः लभ्यते ;-

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥[१]

डॉ. सन्तोष कुमार शुक्लः
सहाचार्यः, विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्रम्,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालयः, नवदेहली-६७

ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्यः
शोधच्छात्रः, विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्रम्,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालयः, नवदेहली-६७

[१] मैत्रायणी-उपनिषद् ६/२२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

यज्ञानां वैज्ञानिकता

अशोक कुमार मिश्र

वैदिकवाङ्मये ऋग्यजुस्सामाथर्ववेदेभ्यो ब्राह्मणारण्यकोपनिसत्पुराणस्मृतिं यावत् सर्वत्र मूलतः सृष्टितत्त्वानां प्रमुखविचारास्सुलभाः। सृष्टिप्रक्रियायाः विशदत्वादस्या उपजीव्यत्वादन्येषां ग्रन्थानां संरचना भवितुमर्हति। सन्दर्भेऽस्मिन् महामहोपाध्यायैः विद्यावाचस्पतिभिः मधुसूदनओझा महोदयैः ब्रह्मसिद्धान्तब्रह्मविनयब्रह्मसमन्वय-महर्षिकुलवैभवयज्ञसरस्वतीप्रभृतयः नैके ग्रन्थाः संरचिताः। विश्वस्य मूलसत्ता ज्ञानमस्ति। तथा अस्य ज्ञानस्य जगतो विभिन्नभावेषु विजृम्भणं विज्ञानमस्ति। विष्णुपुराणे उच्यते -

ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतो साऽवशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदान् जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि॥[१]
महीघटत्वं घटतः कपालिका कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः।
जनै स्वकर्मास्तिमिलात्यनिश्चयैः आलक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु॥[२]
तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित् क्वचित् कदाचित् द्विजवस्तुजातम्।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेद विभिन्नचित्तैर्बहुधाप्युपेतम्॥[३]

ज्ञानरूपस्य भगवतो मूर्तय एव सर्वे पदार्थाः न तु स्वयं पदार्थरूपाः। तस्मात्तस्य भगवतो विज्ञानरूपे विविधरूपेषु शोभायमानाः। तद्यथा-शैलभूमिसागरवृक्षनदी-प्रभृतयः सन्तीति वेदितव्यम्। मृत्तिका घटेषु विपरिणमते, घटाः कपालखण्डेषु, कपालखण्डाः पांसुलेषु, पांसवः अणुरूपेषु परिवर्तन्ते। स्वकर्मतन्त्रेण प्रवणमन-निश्चयानुसारमेव जनाः इमान् पश्यन्ति।

---

[१] वि.पु. २/१२/३९
[२] वि.पु. २/१२/४२
[३] वि.पु. २/१२/४३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एषु सत्स्वरूपवस्तु किमस्ति? किञ्च तद्विज्ञानमिति चेत् अत्रेत्थं वोध्यम्। विज्ञानरूपे अस्य ज्ञानस्यागमनं येन क्रियासमूहेन सम्भवति तन्नाम विज्ञानमस्ति। प्रकारेणानेन विज्ञानरूपं स्वरूपतो द्विविधार्थविशेषं वोधयति-कर्मविस्तारतन्त्रं यज्ञविस्तारतन्त्रञ्च। तैत्तिरीयोपनिषदि उच्यते -

विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।
विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्मज्येष्ठमुपासते॥[१]

अस्यैव सुस्पष्टीक्रियते भृगुवल्ल्याम् -

"विज्ञानाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते; विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्ति अभिसम्विशन्ति।"[२]

यज्ञस्य वैज्ञानिकता अनेन सुस्पष्टयते। श्रीमद्भगवद्गीतायामपि विज्ञानमूलक-कर्ममययज्ञः तेन यज्ञेन सृष्टेरुद्भवः इति ब्रह्मणा प्रतिपादितम् -

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥[३]

सृष्टेरादौ यज्ञस्य सृष्टिः तथा च यज्ञसाहाय्येन प्रजां सृष्ट्वा प्रजापतिरवोचत् यत् हे प्रजाः! यूयमनेन यज्ञविज्ञानेन अशेषां सृष्टिं विस्तारयध्वम्। एतद् यज्ञविज्ञानं युष्माकं कृते मनसेप्सितं शास्त्रीयं फलं धोक्ष्यति। अयं भावः प्रजासर्गः यज्ञसर्गश्च ईश्वरस्य महान् आविष्कारो सञ्जायत इति विद्वन्मण्डले यत्र तत्र गोष्ठ्यां चर्चा भवति।

सृष्टेरादौ सर्गोत्पन्नः तदनु कर्मविज्ञानं किन्तु याथातथ्येन समीक्षणं क्रियते चेत् उभयोः (कर्मसर्गयोः) समाना स्थितिः समश्च कालः प्रतीयते इदमुद्धरणं भगवति वेदे वाजसनेयसंहितायां मन्त्रमाध्यमेन प्राप्यते। यथा -

---

[१] तै.उ.ब्र.व. ५
[२] तै.उ.भृ.व. ५
[३] भ. गी. ३/१०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

देव॑ सवितः प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं भगा॑य।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॒तपू॒ः केत॑न्नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाज॑न्नः स्वदतु स्वाहा॑॥[1]

परम्परायां मन्त्रोऽयं यज्ञार्थपरको विभाति। पुनः वैदिकविज्ञानालोके कश्चिद् विशिष्टोऽर्थोऽनुमीयते। तच्च सवितृशब्दः प्रेरणार्थकः प्रसवार्थकश्च। पुनश्च स्वस्वरूप-चिन्तनविधौ स च सविता प्रकाशमयो देवो ज्ञानमयश्चावलोक्यते। यथा - चाहोपनिषदि - "तमसो मा ज्योतिर्गमय" ज्योतिरित्यत्र ज्ञानम्। प्रकृतिमनुसरामि - हे देवसवितः ! यज्ञं प्रेरय यज्ञ इत्यत्र समस्तस्य सत्कर्मणो वाचकः अर्थात् जागतिकानि निखिलान्यपि सत्कर्माणि उत्पादय प्रेरय वा तदनु यज्ञपतिञ्च यज्ञपतिशब्दोऽप्यत्रानेकार्थकः यज्ञपतिः विष्णुः समग्रस्य प्रपञ्चस्याधीश्वरो यज्ञपतिः यजमानः कर्मसम्पादको वा। अत्र द्वितीयोऽर्थो विज्ञानस्य क्रमे विशिष्यते। आदौ कर्मप्रपञ्चं सम्भारं वा निगदयामास पुनः कर्मसम्पादकञ्च कथयामास। सः यजमानः सत्कर्मसम्पादनेन किञ्चिद्विशिष्टं फलमाप्नोति। तच्च फलं उदाहृते मन्त्रे 'भगाय' इति पदेनोपदिष्टम्। भगः ऐश्वर्यं यद्यपि विष्णुपुराणे भगपदमर्थापयन् भगवान् व्यासः आह-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा॥

यो हि मनुष्यः सत्कर्मसम्पादकः भवति स अचिरेणैव कालेन भगैरलङ्कृतो जायते। तथा सद्य एव भगवान् पदवाच्यो भवति। 'भग एव भगवान्' इति शुक्लयजुर्वेदस्य त्रयस्त्रिंशत्तमेऽध्याये उल्लिखितम्। यज्ञसम्पादनं यज्ञकर्त्रे फलमवश्यं यच्छति। दिव्यः दिवि भवः दिव्यः अलौकिको गन्धर्वो गां वेदवाचं धारयतीति गन्धर्वः, गानात् वा गन्धर्वः, सौम्यस्वरूपो गन्धर्वः देवयोनिविशेषः। केतं - ज्ञानं पुनातीति केतपूः एतद्विशेषणयुक्तो गन्धर्वः। अस्माकं कर्मकर्तृणां चित्तस्थं ज्ञानं पुनातु शोधयतु। वाचस्पतिः बृहस्पतिः नः अस्माकं ज्ञानमयं पावयितारं वाचं स्वदतु आस्वादयतु। अयमत्र विशेषः सामाजिकानां सकलोऽपि व्यवहारो वागधीनो वर्तते।

[1] शुक्लयजुर्वेदसंहिता ९.१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यदि व्यवहारपक्षे सा वाक् शुद्धान्तःकरणेन विचारिता भवति तर्हि अवश्यमेव व्यवहरणीयो जनः प्रीतो भवति। वस्तुतः यज्ञः प्रजापतिरेवास्ति। समस्ताः सृष्टयः यज्ञेनैव भवन्ति। शतपथब्राह्मणेऽप्युच्यते -

"स देवेभ्य आत्मानं प्रदाय अथ आत्मनः प्रतिमां असृजत यद् यज्ञम्।
तस्मादाहुः प्रजापतिः यज्ञ इति आत्मनो हि एतं प्रतिमां असृजत।"[१]

एतेषां सर्वेषाम् आधारो वेद एवास्ति। अथर्ववेदे उक्तम् -

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्रजज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सोऽस्मासु द्रविणामादधातु॥[२]

यज्ञः प्रजापतेः प्रतिमा अस्ति; प्रजापतिरस्ति; देवानामधिपतिरस्ति; स्वयं प्रजापतिरेव इष्टकामधुक् ज्ञापयति। इष्टानां कामानां पूर्त्तिः यज्ञमाध्यमेन भवतीति चर्चा। वेदब्राह्मणारण्यकपुराणादिग्रन्थेषु समुपलभ्यते। यथा - वैवस्वतमनुपरामर्शेन नाभानेदिष्ठः अङ्गिरसां सत्रे "षष्ठ अहः" इत्यस्य शस्त्रे समुद्भवानां भ्रान्तीनां निरसनञ्चकार। तेन साङ्गयज्ञस्य सम्पादने सति तान् स्वसङ्कल्पानुसारं स्वर्गं ददौ। इयमाख्यायिका ऐतरेयब्राह्मणस्य पञ्चमपञ्चिकायाः द्वितीयाध्यायस्य नवकण्डिकातः चतुर्दशकण्डिकापर्यन्तं वर्णिता अस्ति।

"देवक्षेत्रं वा एतद्यत्षष्ठमह ..... नाभानेदिष्ठशंसतिना॥"[३]

श्रीमद्भागवतमहापुराणे (९/४/१-१३) अस्याः आख्यायिकायाः अनुवादोऽस्ति। प्रकारेणानेन ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य द्विनवतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः शर्यातिः अस्ति। एषां यज्ञकर्तृणामपि स्वर्गप्राप्तिरभवत्। वैवस्वतमनुः स्वपत्न्याः श्रद्धायाः सन्तानावाप्तये महर्षिणा वसिष्ठेन "मित्रावरुणेष्टि" यागेन दशपुत्राणां प्राप्तिरभवत्। इदमाख्यानं श्रीमद्भागवतमहापुराणे वर्णितमस्ति। यथा -

---

[१] श. ब्रा. ११/१/९/३
[२] अ. वे. ७/५/२
[३] ऐ.ब्रा. ५/९/११

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान्।
नरिष्यन्तं वृषध्रं च नभगं च कविं विभुः॥
अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान् किल।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत् प्रभुः॥
तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत्।
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता॥
प्रेषितोऽध्वर्युणा होता ध्यायंस्तत् सुसमाहितः।
हविषि व्यचरत् तेन वषट्कारं गृणान् द्विजः॥[१]

एका आख्यायिका तैत्तिरीयसंहितायाः २/४/१२/२ शतपथब्राह्मणस्य च /६/३/७-१५; १/६/४/१-२१ तमे स्थले उद्धृतास्ति। इन्द्रेण विश्वरूपस्य वधे सति त्वष्टा इन्द्रवधसङ्कल्पेन वृत्रं जजान। अन्वाहार्यपचनेन वृत्रो यज्ञवेदिना समुद्भूतः। आभिः आख्यायिकाभिः ज्ञायते यत् यज्ञे देवताः प्रत्यक्षेणागत्य स्वीयं स्वीयं भागम्अगृह्णन्। मिथिलायां समागतरामलक्ष्मणविश्वामित्रञ्च प्रार्थयति जनकः -

यज्ञोपसदनः ब्रह्मन् प्राप्तोऽसि मुनिभिः सह। द्वादशाहं तु ब्रह्मर्षे शेषमाहुर्मनीषिणः॥ ततो भागार्थिनो देवान् द्रष्टुमर्हसि कौशिक॥[२]

यज्ञैः विविधप्रकाराणां नैकानि फलानि रामायणमहाभारतपुराणप्रभृतिवाङ्मयेषु वर्णितानि सन्ति। येषां मूलमपि वेदे निहितमस्ति -

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैस्त्वा जिघांसति।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा॥[३]
ये ते पाशा एकशतं मृत्योर्मर्त्याय हन्तवे।
ताँस्ते यज्ञस्य मायया सर्वानवयजामहे॥[४]

---

[१] भागवत म. पु. ९/१२/१५
[२] वाल्मीकिरामायणम् बा. का. ५०/१५-१६
[३] अ.वे. ८/५/१५
[४] काठकसंहिता ३८/१४८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यतो हि सृष्टिः यज्ञमूलिकाऽस्ति। अतएव यज्ञस्य ज्ञानं सृष्टिज्ञानमस्ति। अथर्ववेदे रहस्यमिदमुक्तमस्ति -

"एतस्माद् वा ओ दनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमितीत प्रजापतिः" ॥[१]

"तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत॥"[२]

देवानां आप्यायनाय (वर्द्धनाय) यज्ञः क्रियते -

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः।

तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद विष्णो बहुधा वीर्याणि।

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥[३]

अत्र त्रिंशन्मन्त्राणां सूक्तेऽस्मिन् विंशतिमन्त्राणाम् अन्तिमः पादः "त्वं नः पृणीहि परमे व्योमन्" अस्ति। अनेन यज्ञेन मुक्तिप्राप्तेरपि स्पष्टज्ञानं भवति। इन्द्रस्य प्रवर्द्धनम्, पृथिव्याः विवर्तनञ्च यज्ञस्य कार्यमस्ति। स्पष्टरूपेणेदं विज्ञानमस्ति। सन्दर्भेऽस्मिन् सामवेदसंहितायामुल्लिखितम् -

यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशम् दिवि॥[४]

विश्वकर्मणा यज्ञस्य वितानं क्रियते। सुमनस्यमानाः देवाः तस्मिन् यज्ञे स्वीयं भागग्रहणार्थम् आगच्छन्ति। अथर्ववेदे उक्तम् -

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥[५]

यज्ञमिमं मायाऽपि उच्यते तैत्तिरीयसंहितायाम् - "तं निर्मायं भूतमहन् यज्ञो हि तस्य माया०"[६] प्रकृतिरपि माया अस्ति। अतएव प्रकृत्यामपि यज्ञः सर्वदा भवति। श्वेताश्वतरोपनिषद्युल्लिखितम् -

---

[१] अथर्व. ११/३/५२

[२] अथर्ववेदः ११/३/५३

[३] अथर्ववेदः सं. १७/१/१८

[४] सामवेदसंहिता पूर्वार्चिकं २२१, उत्तरार्चिकं १६३९

[५] अथर्ववेदसंहिता १९/५८/५

[६] तै. सं. ६/५/१/२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥[१]

प्रकारेणानेन अविद्याऽपि माया यज्ञो वा अस्ति।

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यद्उपदेश्यम्।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः॥[२]

अयं यज्ञो विज्ञानमेवास्ति येन मृत्योस्तरति यो यजुर्वेदे अविद्याभिधानेन स्वीक्रियते -

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥"[३]

यज्ञं विश्वतोधारः समुच्यते। यज्ञवेत्तारः विश्तोधारयज्ञस्य विस्तारयन्ति। अथर्ववेदेऽप्युच्यते -

"यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥"[४]

सर्वा दिशः यस्य धाराः सन्ति; यः सर्वाभ्यः दिग्भ्यः धारकोऽस्ति सः विश्वतोधारः।

विश्वतोधारता यज्ञस्य तां व्यापकतां ज्ञापयति यस्य किञ्चित् सङ्केतं भगवता श्रीकृष्णेन श्रीमद्भगवद्गीतायां वर्णितम् -

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥[५]
एवं बहुविधा यज्ञा विताता ब्रह्मणो मुखे॥[६]

---

[१] श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४/१०
[२] अ.सं. ११/८/२३
[३] यजुर्वेदसंहिता ४०/१४
[४] अथर्ववेदसंहिता ४/१४/४
[५] भगवद्गीता ४/२८
[६] भगवद्गीता ४/३२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अत्र भगवता श्रीकृष्णेन केषाञ्चित् यज्ञानां नामोल्लेखनं कृतम्। अन्ते च यज्ञस्य बहुविधत्वं ज्ञापयति। मनुना प्रतिपादितम्-यज्ञविधिमेव प्रजाः अगृह्णन् इति । शतपथब्राह्मणे उक्तम् - "मनुर्ह वा अग्रे यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजाः यजन्ते॥"[१]

यज्ञस्य बहुधा कल्पना ऋग्वेदेऽपि दरीदृश्यते -

"यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति। यो अनूचानो ब्राह्मणो। युक्त आसीत् का स्वित् तत्र यजमानस्य संवित्॥[२]

मन्त्रेऽस्मिन् "सचेतसः" इत्यस्य पदस्य द्वावर्थौ स्तः बुद्धिसम्पन्नः समानचित्तस्कश्च । यज्ञस्य वैज्ञानिकता इत्यस्य सन्दर्भे नैकानि समुद्धरणानि वेदब्राह्मणारण्यकोपनिषद्पुराणप्रभृतिषु ग्रन्थेषु विद्यन्ते । आवश्यकता अस्ति तेषामध्ययनस्य।

डॉ. लम्बोदर मिश्रः
सह-आचार्यः वेदः,
जगद्गुरुः रामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
जयपुरम् (राज.)

[१] शतपथब्राह्मणम् १/५/१/७
[२] ऋ.सं. ८/५८/१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

वर्णानुक्रमेणोपनयनकालविमर्शस्तत्प्रयोजनञ्च

डॉ. चूडामणिःत्रिवेदी

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

इति मन्त्रोक्तगुणोपेतस्य यज्ञोपवीतस्य धारणार्थं त्रैवर्णिकानाम् अधिकारो वर्त्तते। अस्य धारणस्य कालविशेषः शास्त्रेषु भृशं समुपवर्णित अस्ति। अस्य कृते श्रुतिस्मृति-पुराणप्रभृतिधर्मग्रन्थेषु वर्णितेषु षोडशसंस्कारेषूपनयनसंस्कार अन्यतमः। उपनयनं वैदिकयुगादेव प्रसिद्धं कर्म इदं हि कर्मातिमहत्त्वपूर्णं वर्त्तते । अनेनैव कर्मणा 'द्विज' इति व्यपदेश्या ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः[१]। अतः कर्मैतत् अतितमं प्रमुखम् । अत्रैव कर्मणि सावित्रीदीक्षा द्विजेभ्यो दीयते । इयं हि सावित्री सकलशास्त्रसारभूता[२], तस्याः अत्र कर्मणि दीक्षया इदं कर्मापि महत्। दीक्षायाः प्रकारान्तरेण विधानं प्रायः सर्वत्र दरीदृश्यते। क्वचन असभ्यसमाजे सहनशक्तिपरीक्षणक्रमेण युवा माणवकः समाजे दीक्षितः क्रियते[३]। अन्यत्र च समाजे अस्थाय्येकान्तवासेन कन्या दीक्ष्यन्ते[४]। कस्मिंश्चिच्च वन्यसमाजे किमप्यङ्गं विनाश्य दीक्षाः प्रदीयन्ते[५]। इस्लामधर्मानुयायिनः यवनानान्त्वद्यापि शिश्नाग्रच्छेदः दीक्षितुं क्रियते तस्मिन् धर्मे यवनान्। अस्माकमुपनयनमिति दीक्षैव परा। परन्त्वत्र महती सांस्कृतिकी आध्यात्मिकी च

---

[१] मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः॥ या. स्मृ. १/३९

[२] त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ म. स्मृ. २/७७

[३] फ्रेजर गोल्डेन वाउ, पृ. ४४२

[४] फ्रेजर गोल्डेन वाउ, पृ. २०४

[५] हर्बर्टस्पेन्सर प्रिन्सिपुल्स ऑफ सोशियोलॉजि, १/१८९, २९०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भावना प्रतिष्ठिता वर्तते। उपनयनं नाम यस्मिन् कर्मणि येन कर्मणा वा आचार्येण विद्यार्थं सुमुहूर्ते कुमारस्य स्वसमीपे नयनम् इति संस्कारतत्त्वमालायाम्[१]। अतो वक्तुं शक्यते यदुपनयनं सर्वथैव वैदिकं वैज्ञानिकञ्च कर्मेति। तत्र वर्षर्तुमासपक्षायनादि-भेदाद्विविधः कालो निर्णेतव्यः। महर्षिभिः एषु प्रथमं वर्षविषये कथ्यते -

तत्र वार्षिकः कालो द्विविधः नित्यः, काम्यश्च। नित्योऽपि द्विविधः-मुख्यः, गौणश्च भेदात्।

तत्र नित्य मुख्यकालमधिकृत्य विविच्यते -

१. **मुख्यकालः** - द्विजातीनां कृते उपनयनस्यानुष्ठानकालो भिन्नो भिन्नो वर्तते। ब्राह्मणकुमारस्योपनयनम् अष्टमे वर्षे, क्षत्रियस्यैकादशे वर्षे, वैश्यस्य द्वादशे वर्षे अनुष्ठेयम्। अयं हि कालः श्रुतिसम्मतो वर्त्तते -

"अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत एकादशवर्षं राजन्यं द्वादशवर्षं वैश्यमिति।"[२]

बौधायनादयः गर्भादिः सङ्ख्या वर्षाणामित्यनुमन्यन्ते। धर्मशास्त्रे उभयविधा वर्षगणना प्रसिद्धा वर्त्तते। अतः सिद्धं यत् गर्भतो जन्मतो वा अष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्य, एकादशे वर्षे क्षत्रियस्य, द्वादशे वर्षे च वैश्यस्योपनयनमनुष्ठेयम्। याज्ञवल्क्यः उभयविधां वर्षगणनां समर्थयति -

गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम्॥[३]

कात्यायनादयः सप्तमे ब्राह्मणस्य, दशमे क्षत्रियस्य, एकादशे वैश्यस्य उपनयनमुपादिशन् - "सप्तमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनयनम्। दशमे राजन्यस्य। एकादशेवैश्यस्य॥"[४] तत्र गर्भादिः वर्षगणना प्रतीयते। यतो गर्भतोऽष्टादि वर्षाणि

---

[१] सं. र. मा., पृ. १६४
[२] सं. प्र., पृ. ३४०
[३] या. स्मृ. १/१४
[४] उद्धृतम्, सं. त. स., पृ. १५४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वीकुर्याम चेत् जन्मतः सप्तमादिवर्षाण्येव सिध्येरन्। कालोऽयं मुख्यः कालो मन्यते।

२. **गौणकालः** - मुख्यकालस्य बाधे जाते सति आचार्या गौणकालम् उपादिशन्। स च कालो मुख्याभाव एव स्वीकार्यः। तत्र षोडशवर्षं यावत् ब्राह्मणस्य, द्वाविंशतिवर्षं यावत् क्षत्रियस्य, चतुर्विंशतिवर्षं यावत् वैश्यस्योपनयनस्य गौणकालो भवति। उक्तं गोभिलेन - **"आषोडशाद्वर्षात् ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति, आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद् वैश्यस्य"**[१]। इयं च वर्षगणना गर्भादिः वर्त्तते।

३. **काम्यकालः** - यदि कश्चिद् विप्रो ब्रह्मवर्चसकामो वर्त्तते तर्हि तस्योपनयनं पञ्चमे वर्षे विधेयम्। बलार्थिनः क्षत्रियस्योपनयनं षष्ठे वर्षे, बहुकृष्यादिचेष्टकामस्य वैश्यस्योपनयनम् अष्टमे वर्षे विधेयमिति सामान्यः सिद्धान्तः। उक्तं मनुना -

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥[२]

तत्र धर्मशास्त्रे विभिन्नाः कामना आश्रित्य क्रियमाणस्योपनयनस्य भिन्नभिन्नः कालोऽवलोक्यते। तथापि आपस्तम्बबौधायनाभ्यां त्रैवर्णिकाणां कृते उपनयनस्य अग्रलिखिताः समानाः काम्यकालाः[३] प्रतिपादिताः सन्ति -

ब्रह्मवर्चसकामः	=	सप्तमे वर्षे
आयुष्कामः	=	अष्टमे वर्षे
तेजस्कामः	=	नवमे वर्षे
अन्नाद्यकामः	=	दशमे वर्षे
इन्द्रियकामः	=	एकादशे वर्षे
पशुकामः	=	द्वादशे वर्षे
मेधाकामः	=	त्रयोदशे वर्षे

[१] गो.गृ. २/१०/३
[२] मनु.स्मृ. २/३७
[३] आप.धर्म. १/१/२०-२६, बौ.गृ. २/५/५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पुष्टिकामः	=	चतुर्दशे वर्षे
भ्रातृव्यकामः	=	पञ्चदशे वर्षे
सर्वकामः	=	षोडशे वर्षे

व्रात्याः

द्विजस्योपनयनकालो यदाऽतिक्रान्तो भवति तदा स सावित्र्युपदेशानर्हो भवति। मनुना उक्तम् -

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥[१]

अर्थात् धर्मशास्त्रैः अभिमतान् मुख्यगौणकाम्यादीन् सकलानपि उपनयनकालान् यदि द्विजोऽतिक्राम्येत् तर्हि स सावित्रीपतितः, व्रात्यः, सभ्यसमाजात् गर्हितश्च जायते। स पतितसावित्रीक इत्युपाधीयते। पारस्करोऽपि प्रत्यपादयत् - "**अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति। नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः॥**"[२] एते व्रात्याः सर्वेभ्योऽपि कर्मभ्यो विवर्जिता भवन्ति। एतेषाम् अध्यापनं, यागादिकं सर्वं वर्जितं भवति। एते विवाहादिसम्बन्धयोग्या अपि न भवन्ति। वेदाध्ययने अधिकारच्युतत्वात् एते शूद्रतुल्या एवाभिधीयन्ते[३]।

व्रात्यानामुपनयने प्रायश्चित्तम् - एवंविधाः पतितसावित्रीकाः प्रायश्चित्तमाचर्य उपनयनसंस्कारार्हा भवन्ति।

---

[१] म.स्मृ. २/३९-४०
[२] पा. गृ. २/२
[३] न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्।
नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाद्दते ।
शूद्रेण हि समस्तावद् यावद्वेदे न जायते ॥ म. स्मृ. २/१७१-१७२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्सेमेनेष्ट्वा काममधीयीरन्॥"[१]

अर्थात् व्रात्यस्तोमयज्ञानुष्ठानेन व्रात्या वेदाध्ययनाधिकारं पुनर्लभन्ते । अनेन ज्ञायते यत् कतिपयानि निश्चितव्रतानि अनुष्ठीय व्रात्याः पुनः वैदिकधर्मे प्रवेशमार्हन्। ब्राह्मणस्य षोडशवर्षं यावत् उपनयनकालो विहितो वर्त्तते। तत ऊर्ध्वं तस्योपनयनं कर्त्तव्यं चेत् तदा स विविधेषु वर्षेषु भिन्नभिन्नानि प्रायश्चित्तानि कुर्यात्। तद्यथा -

१. **सप्तदशे वर्षे** - व्रात्यः सशिखं वपनं कुर्यात्। स एकविंशतिरात्रं प्रसृतियावकं पिबेत्। ततः स पञ्च सप्त वा ब्राह्मणान् भोजयेत्। इत्थं यावकशुद्धस्य तस्योपनयनं कर्त्तव्यम्।[२]

२. **अष्टादशे वर्षे** - व्रात्यः प्राजापत्यत्रयं कुर्यात्। प्राजापत्यं द्वादशदिनानि प्रवर्त्तते, येषु दिनत्रयावधि प्रातःकालीनं भोजनम्, दिनत्रयं सान्ध्यभोजनम्, दिनत्रयम् अयाचितभोजनम्, अन्तिमदिनत्रयं चोपवासमात्रं विधीयते। उक्तं मनुना -

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात् प्राजापत्यं चरन्द्विजः॥[३]

३. **एकोनविंशे वर्षे** - व्रात्यः अग्नीन्धनम्, अध्ययनं, गुरुशुश्रूषां च विहाय अन्यत् सर्वं ब्रह्मचर्यधर्मं मासद्वयमाचरेत्। ततस्तस्योपनयनं कर्त्तव्यम्।[४]

४. **विंशे वर्षे** - व्रात्यो मनूक्तम् उपपातकसामान्यप्रायश्चित्तं मासत्रयं समाचरेत्। व्रात्यः सशिखं मुण्डितशिराः लूनश्मश्रूश्च एकमासावधिशिथिलयवागूरूपेण यवान् पिबेत्। ततो मासद्वयं कृत्रिमलवणवर्जितं हविष्यान्नम् एकदिनं प्रातःकाले द्वितीयदिने सायङ्काले इत्यनेन क्रमेण अश्नीयात्। ततः स पुनः संस्कारमर्हति।[५]

---

[१] पा. गृ. २/५/५४
[२] यमः, मिताक्षरा, ३/२६५
[३] म. स्मृ. ११/२११
[४] आप. धर्म. १/१/२८-२९
[५] गो.गृ.टि., पृ. ४५८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

५. **एकविंशे वर्षे** - व्रात्यः चातुर्मासिकम् उद्दालकव्रतं समाचरेत्। उद्दालकव्रतं[१], यथा - व्रात्यः द्वौ मासौ यावकस्य आहारं कुर्यात्। ततः एकमासं पयः पिबेत्। ततः एकं पक्षं दध्ना वर्त्तयेत्। ततः सप्तरात्रं घृतेन, ततःषड्रात्रम् अयाचितेन, ततश्च जलेन त्रिरात्रं वर्त्तयेत्। पुनः अहोरात्रम् उपवासं कुर्यात्। तदूर्ध्वं स उपनयनसंस्कारार्हो भवति।

६. **द्वाविंशे वर्षे** - व्रात्यः अश्वमेधावभृथं गच्छेत्।

७. **त्रयोविंशे वर्षे** - व्रात्यः व्रात्यस्तोमाख्यस्य क्रतोः अनुष्ठानं कुर्यात्। उपर्युक्तावधौ ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तानि तत्रोक्तानि। एवमेव क्षत्रियवैश्ययोरपि द्वाविंशत् चतुर्विंशाच्च ऊर्ध्वम् उपर्युक्तक्रमेणैव प्रायश्चित्तानि ज्ञेयानि।

उपनयनस्य शुभः कालः

उपनयनसंस्कारः उत्तरायणेऽनुष्ठेयः।[२] वैश्यानामुपनयनं दक्षिणायनेऽपि कर्त्तुं शक्यते।[३] तत्र ब्राह्मणस्य वसन्तर्त्तौ, क्षत्रियस्य ग्रीष्मर्तौ, वैश्यस्य चोपनयनकालः शरदृतौ भवति।[४]

मासाः

सामान्यतः सर्वेषां द्विजातीनाम् उपनयने माघादारभ्य आषाढावधि उत्तरायणस्य षण्मासाः प्रशस्ताः सन्ति।[५] परन्तु बृहस्पतेः मतानुसारं ब्राह्मणस्य उपनयनाय आषाढमासोऽधमो वर्त्तते।[६] अवशिष्टेषु पञ्चसु मासेष्वपि चैत्रमासो ब्राह्मणस्य कृते उत्तमो वर्त्तते। बृहस्पतिः अन्येषु गुणेषु असत्स्वपि तस्य चैत्रमासिकम् उपनयनम् प्रशस्तं मन्यन्ते -

---

[१] बृहस्पतिः, सं. र. मा., पृ. १७०
[२] वृद्धगार्ग्यः, सं. प्र. पृ. ३५४
[३] मनु. स्मृ. ११/१०८-१०९
[४] नृसिंहः, पा. गृ. ग. भा. २/२, आश्व. गृ. १/४/१
[५] पा. गृ. ग. भा. २/२
[६] सं. र. मा., पृ. १७१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गुरौ भृगौ नष्टगते च चैत्रे कार्यं न मङ्गल्यमनर्थकारि।
मीनस्थितेऽर्के खलु चैत्रमासे शुभप्रदं ब्राह्मणमौञ्जिबन्धः।।
गोचराष्टमवर्गाभ्यां गुरुशुद्धिर्न लभ्यते ।
तदोपनयनं कार्यं चैत्रे मीनगते रवौ ॥
शुक्रे नष्टे तथा जीवे दुर्बले चन्द्रभास्करे।
व्रतोपनयनं कार्यं चैत्रे मीनगते रवौ ॥
जीवभार्गवयोरस्ते सिंहस्थे देवतागुरौ।
मेखलाबन्धनं शस्तं चैत्रे मीनगते रवौ ॥
अतीवनष्टे सुरराजपूज्ये सिंहस्थिते वा द्विजपुङ्गवानाम्।
व्रतं प्रशस्तं खलु मासि चैत्रे कर्तुश्चिरायुः सुखसम्पदे स्यात्॥[१]

ज्येष्ठपुत्रस्योपनयनं विशेषेण ज्येष्ठमासे प्रतिषिद्धो वर्त्तते।

राजमार्त्तण्डे काम्यत्वेन मासानां निर्देशं विधाय तेषु उपनयनानुष्ठानस्य फलं[२] निरूपितम्। तद्यथा -

१. माघमासे उपनीतो महाधनो भवति।
२. फाल्गुनमासे उपनीतः प्रज्ञावान् भवति।
३. चैत्रमासे उपनीतो मेधावी भवति।
४. वैशाखमासे उपनीतो निखिलोपभोगयुतो भवति।
५. ज्येष्ठमासे उपनीतो महापण्डितो भवति।

सामान्यतो जन्ममासे उपनयनं नानुष्ठेयम्।[३] परमयं प्रतिषेधो वसन्तर्तौ अनुष्ठीयमाने उपनयने न भवति।[४]

---

[१] सं. प्र., पृ. ३५७
[२] तत्रैव, पृ. ३५४
[३] गर्गः-विवाहे मेखलाबन्धे जन्ममासं विवर्जयेत्। विशेषाज्जन्मपक्षं च वसिष्ठाद्यैरुदाहृतम्॥ सं. प्र., पृ. ३५८
[४] राजमार्त्तण्डः - वसन्तसमये दद्याद्ब्दे गर्भाष्टमेऽष्टमे ।
मेखलां जन्ममासेऽपि जन्मभे च तिथावपि ॥ सं. र. मा., पृ. १७२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तिथयः

उपनयनाय शुक्लपक्षे द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, त्रयोदशी एतास्तिथयः प्रशस्ताः सन्ति।[१] तदभावे कृष्णपक्षेऽपि त्रयोदशीवर्जिता एता एव तिथयः प्रशस्ता मन्यन्ते। कृष्णपक्षे उपनेतुः चन्द्रप्रावल्ये सत्येव संस्कारो विधेयः।

तत्र धर्मशास्त्रे उपनयनाय सामान्यतः गुरुशुक्रयोः अस्तत्वम्, क्षीणचन्द्रः, अनध्यायः, गलग्रहाः, उपपदास्तिथय इत्यादयः कालाः प्रतिषिद्धा वर्त्तन्ते।

तिथिफलानि

विभिन्नासु तिथिसु अनुष्ठितस्योपनयनस्य अधोलिखितं[२] फलं भवति -

उपनयनतिथिः	-	फलम्
प्रतिपदा	-	मदिरासक्तः
द्वितीया	-	विद्वान्, मेधावी
तृतीया	-	नीतिज्ञः, मेधावी, शत्रुजित्
चतुर्थी	-	मन्दबुद्धिः, निरुत्साहः, दीनः, चपलः
पञ्चमी	-	धनवान्, दीर्घायुः, बुद्धिमान्
षष्ठी	-	अशुचिः
सप्तमी	-	नित्यरोगी
अष्टमी	-	अल्पायुः
नवमी	-	निर्धनः
दशमी	-	धनवान्
एकादशी	-	गुणवान्
द्वादशी	-	नीतिशास्त्रज्ञः

[१] सं. प्र. पृ. ३५९

[२] सिता ज्येष्ठे द्वितीया च आश्विने दशमी सिता ।
चतुर्थी द्वादशी माघे एताः सोपपदाः स्मृताः॥ सं. म. पृ. ५४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

त्रयोदशी	-	शीघ्रमरणम्
चतुर्दशी	-	शीघ्रमरणम्
पूर्णिमा (पञ्चदशी)	-	शीघ्रमरणम्

दिवसाः

सामान्यतो रविवासरः, गुरुवासरः, शुक्रवासरश्चेति प्रशस्ता दिवसा वर्त्तन्ते।[१] सोमवासरोऽधमो वर्त्तते। मङ्गलबुधशनिवासरा मध्यमाः सन्ति। वराहेण ऋग्वेदिनाम् उपनयने गुरुवासरः, यजुर्वेदिनाम् उपनयने शुक्रवासरः, सामवेदिनाम् उपनयने मङ्गलवासरः, अथर्ववेदिनां चोपनयने रविवासरः प्रशस्तोऽभिहितः।[२]

वारफलानि

राजमार्त्तण्डे तत्तद्वारफलानि[३] सामान्यतः प्रतिपादितानि सन्ति -

१. रविवासरे उपनीतो मेधाम् अवाप्नोति।
२. सोमवासरे उपनीतो जाड्यम् अवाप्नोति।
३. मङ्गलवासरे उपनीतो मृत्युम् अवाप्नोति।
४. बुधवासरे उपनीतो बोधम् अवाप्नोति।
५. गुरुवासरे उपनीतः षट्कर्माभिरतिम्, सुखम्, विद्वत्वम्, दीर्घायुष्यं चावाप्नोति।
६. शुक्रवासरे उपनीतो मृत्युम् अवाप्नोति।
७. शनिवासरे उपनीतो मृत्युम् अवाप्नोति।

नक्षत्राणि -

प्रशस्तनक्षत्राणि-अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुनर्वसुः, पुष्यः, उत्तरफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, अनुराधा, उत्तराषाढा, श्रवणः, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती।[४] यदि कथञ्चित् विहितनक्षत्रासम्भवे उपनयनमनुष्ठेयं चेत् मघा, कृत्तिका, विशाखा,

---

[१] बादरायणः, सं. प्र. पृ. ३६३
[२] मदनपरिजातः, पा. गृ. ग. भा. २/२
[३] सं. प्र. पृ. ३६५
[४] तत्रैव

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ज्येष्ठा, भरणी-शतभिषगित्येतानि नक्षत्राणि विहाय अन्यनक्षत्रेषु उपनयनं कार्यमिति संस्कारप्रकाशे व्यवस्था वर्त्तते।[१]

योगाः -

शुभा योगा उपनयने प्रशस्ता भवन्ति। उपनयनार्हस्य कुण्डल्यां चन्द्रगुरू बलबन्तौ स्याताम्। बृहस्पतिः ज्ञानस्य सुखस्य च प्रातिनिध्यं भजते। अतस्तस्य उदयत्वं बलत्वं च सुतरामपेक्ष्यते।[२]

डॉ. चूडामणिःत्रिवेदी
असिस्टेण्ट प्रोफेसरः,
संस्कृतं, दर्शनम् एवं वैदिक-अध्ययनविभागः,
वनस्थली विद्यापीठम्, राजस्थानम् ३०४०२२

[१] हेमाद्रिः, नि. सिं. पृ. ५४७
[२] सं. प्र. पृ. ३६९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

वैदिकसंस्कृतवाङ्मये पर्यावरणम्

डॉ. अनिल प्रताप गिरिः

वेदा खलु ज्ञानराशयः । विविधविद्यानां, सकलशास्त्राणां, सर्वधर्माणां, विश्वसंस्कृतीनां, विभिन्नदर्शनानां कमनीयकलानां च स्रोतांसि वेदेषु प्राप्यन्ते ।

वेदशब्दार्थः विद् ज्ञाने इति धातोः घञि प्रत्यये कृते सति 'वेद' शब्दः सिध्यति। धातुपाठेऽन्येऽपि बहवः 'विद् धातवः' । उक्तं च मनुना-'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' ।

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिमतो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥[१]

वेदशब्दस्य विवेचनम्

यथा - "वेद्यन्ते ज्ञायन्ते लभन्ते वा धर्मादिपुरुषार्थः एभिरिति वेदाः"। वेदानाम् उल्लेखो यथा - ऋग् - यजुः - सामाथर्वणनामधेयाः ।

१- सायणाचार्येण वेदशब्दव्युत्पत्तिः लिखितं चेत् -

"इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः"।[२] अर्थात् अनिष्ट परिहार पुरस्सरम् इष्टप्राप्तेः लौकिकं प्रकारं यो वेदयति सः वेदः ।

२- महर्षि दयानन्दानुसारमपि यथा -

'विदन्ति, जानन्ति, विद्यन्ते, भवन्ति सर्वाः सत्यविद्या येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः' ।[३] सर्वमतावलम्बिनः प्राच्याः पाश्चात्याश्च विद्वांसः एकमत्या स्वीकुर्वन्ति यद् वेदा अखिलविद्यानाम् आकारभूता विराजन्ते । अतएव वेदानाम्

---

[१] मनुस्मृतिः २/७
[२] कृष्णयजुर्वेदस्य भाष्यभूमिकायाम् ।
[३] ऋग्वेदभाष्यभूमिकायाम् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अपौरुषेयत्वं सुप्रसिद्धम्। परन्तु वेदानां कालनिर्णयविषये सार्वत्रिकाः पृथक् - पृथक् प्रमाणमाश्रित्य परस्परं विवदमानाः दृष्टिपथमायान्ति । अस्मिन् विषये विदुषां न ऐकमत्यम् । इदं सर्वे स्वीकुर्वन्ति - यद् वेदा अस्माकं धर्मग्रन्थत्वेन आकारग्रन्थत्वेन च विराजन्ते इति । वसुधातले सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, इत्याद्युपदेशश्रृङ्खला वेदानामेव चिरात् जागर्ति । अतो न केवलम् आर्यवंशीया, भारतीया एव वेदं प्रणमन्ति अपि तु अन्यधर्मावलम्बिनो विजातीया विदेशीया अपि वेदान् तथैव समादृतान् कुर्वन्ति ।

वेदानाम् उपवेदनामानि यथा -

ऋग्वेदः - आयुर्वेदः, सामवेदः - गान्धर्ववेदः, यजुर्वेदः - धनुर्वेदः, अथर्ववेदः इत्यादयः । वेदाङ्गत्वेन विख्याताः यथा - शिक्षा, कल्प, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषञ्च । एतेषाम् उपाङ्गानि यथा- पुराणानि, न्यायशास्त्रम्, मीमासाशास्त्र, धर्मशास्त्रादीनि च ।

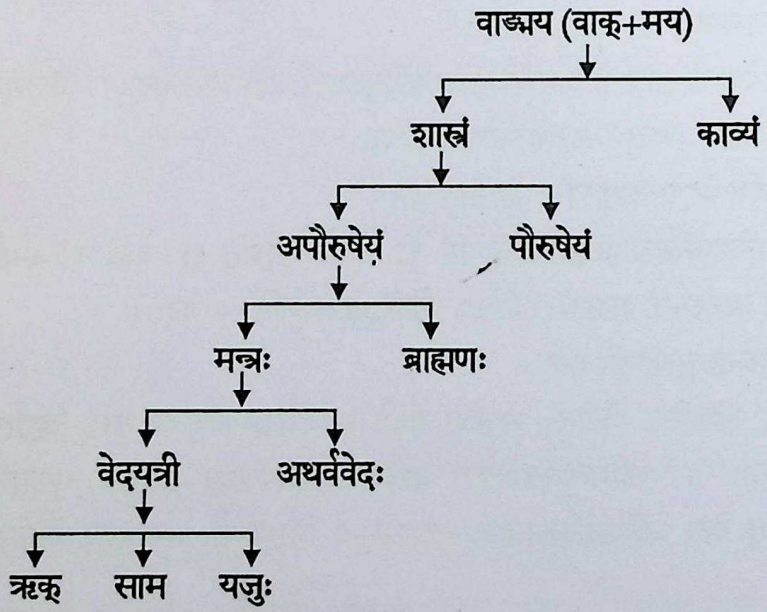

उपवेदः - आयुर्वेदः धनुर्वेदः गन्धर्ववेदः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वेदे पर्यावरणविज्ञानम्

किं पर्यावरणम् ?

पर्यावृतिः पर्यावरणम् । यत् परितः आवृणोति आच्छादयति तत् पर्यावरणम्। ये मानवं परितः आच्छादयन्ति, मानवजीवनं च प्रभावयन्ति, ते पर्यावरणशब्देन गृह्यन्ते । पर्यावरणं भौतिक-जैविकतत्त्वानां सङ्कलनेन भवति । भौतिकतत्त्वेषु मृत्तिका, जलम्, वायुः, प्रकाशश्च सन्ति । जैविकतत्त्वेषु समस्त-जीव-जगद्-वृक्ष-वनस्पतयश्च सन्ति ।

प्रथमं यज्ञमहिमानं विचारयामः

यज्ञो वैदिकसंस्कृताङ्गभूतेषु तत्त्वेषु प्राधान्यं भजते । वेदेषु यज्ञादीनां तथा विविधानां कर्मकाण्डानां विशेषरूपेण उल्लिखितमस्ति । यजमाना येन कर्मणा देवेभ्यो वर्षादिकं प्रार्थयन्ते, तद् कर्म खलु यज्ञ इति व्यपदिश्यते । लोके यज्ञसम्पादनेन वर्षा भवति । वर्षाया अन्नस्योत्पत्तिर्भवति, एवं तत्पश्चात् जगति विद्यमानं सकलजीवानां पोषणं भवति ।

अतः श्रीमद्भगवद्गीतायां तृतीयेऽध्याये श्रीकृष्णेन उक्तम्-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥[१] इति

यथा - विष्णुपुराणे -

यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण वै प्रजाः ।
आप्यायन्ते धर्मज्ञ यज्ञाः कल्याणहेतवः ॥[२]

---

[१] श्रीमद्भगवद्गीता ३/१४

[२] विष्णुपुराणम् । १/६/८, गीताप्रेस गोरखपुर (उ०प्र०) संस्करणम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy. Kathmandu Collection

यज्ञेन सङ्क्रामकरोगाणां समूलोच्छेदं भवति इति वैज्ञानिकैः स्वीकृतं तथ्यम् । यज्ञेषु प्रयुक्तं घृततिलादिकं वस्तु यज्ञधूमरूपेण परिणतं भूत्वा वायुमण्डले प्रदूषणकाराणां जैविकतत्त्वानां विनाशं करोति । वेदेषु यज्ञस्य स्वरूपं सविशेष निरूपितमस्ति । उक्तं च यजुर्वेदे -

"समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन॥"[१]

अग्निसत्कारः - यथा -

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥[२]

पर्यावरणे तरुमहत्त्वम्

वैदिकमहर्षिभिः वनस्पतिषु जन्तुषु च देवत्वं प्रकाशितम् । प्राचीनकाले भारतीया विविधान् जन्तून् पालितवन्तः । पालितानां तेषां जन्तूनां साहाय्येन स्वपरिश्रमेण च ते क्षेत्रेषु वनस्पतीनां समृद्धिं कृतवन्तः । तैः वनस्पतिषु देवत्वम् अनुभूतं फलतः वनस्पतिपूजनपरम्परा प्रवर्त्तिता इति मन्ये । भारतीयेषु धर्मग्रन्थेषु तरुगुल्मादीनामपि श्रद्धा-आस्थापरिपूर्णा पूजनविधिः प्राप्यते । वेदे सोमरस स्मृतिदायक-अमृतत्वसम्पादकश्च स्वीकृतः । गीतायां भगवान् श्रीकृष्ण अश्वत्थवृक्षविषये उक्तवान् यत् अश्वत्थवृक्षः भगवत्साररूपः । एवमेव भारतीयपरम्परायां वटवृक्षस्य, विल्ववृक्षस्य, आम्र - निम्ब - पिप्पल - शाल्लप्रभृतीनां वृक्षाणां छेदनं पर्यावरणसंरक्षणदृष्ट्या सर्वथा निषिद्धं विद्यते । पूर्वे तुलस्याम् अग्रभागे देवानां निवासो मनीषिभिः स्वीक्रियते ।

तत्र अथर्ववेदे वनस्पति-पशु-पक्षीसम्बन्धानां मन्त्राणां बाहुल्यं विद्यते । ऋग्वेदे औषधिसूक्तानामारोग्यकारकाणां पादपानां वर्णनं बहुत्र समुपलभ्यते ।

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ।

---

[१] यजुर्वेदः ३/१
[२] ऋग्वेदः १/१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥
ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥ (ऋग्वेदः १०.१७.२-३)

पर्यावरणे नदीनां महिमा

प्राचीनकालादेव नदीतडागादिरूपेण भूमण्डले विद्यमानजलराशिः भारतीयैः पूज्यो मन्यते । सन्दर्भेऽस्मिन् गङ्गानद्याः महिमा सविशेषं प्रशस्ता । गङ्गानदी भारतीयानां जीवने मातृवत् पूज्याभिमता । गङ्गालहर्यां पण्डितराजेन उक्तम् -

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तन्
महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः ।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमयमूर्तं सुमनसां
सुधासौन्दर्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ॥

महर्षिणा वाल्मीकिनापि स्वरचिते रामायणे नदीनां-सागराणां च रमणीयं वर्णनं कृतम् । पञ्चमवेदरूपेण प्रसिद्धे महाभारतेऽपि गङ्गा, यमुना, गोदावरी, नर्मदादीनां पवित्राणां नदीनां सुन्दरं चित्रणं प्राप्यते । सरस्वतीनद्या जले स्नानेन पापक्षयो भवति। जलम् अमृतमेव वैदिकसाहित्ये जीवनजलयोः पर्यायत्वं स्वीक्रियते।

ज्योतिषशास्त्रे पर्यावरणमहत्त्वं प्राचीनत्वम् । भारतीयज्योतिषशास्त्रे सूर्यचन्द्रादीनां ग्रहाणां पूज्यत्वेन स्वीकारः प्राचीनानां भारतीयानां पर्यावरण-विषयकचिन्तनं प्रस्तुतम् । ग्रहाः पृथिव्यां विद्यमानवन्यप्राणिनां जीवनं साक्षात् प्रभावयन्ति । इमे ग्रहाः ज्योतिषगतिविधिविशिष्टं समग्रमपि पर्यावरणं सन्तुलयन्ति ।

मातृवत् पृथिव्याः श्रद्धाभावो वेदेषु बहुधा प्रकाशितः

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः०'[1] मन्त्रेषु मानवजातेःस्नेहमयसम्बन्धः प्रदर्शितः ।

[1] अथर्ववेदः १२/१/१२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भारतीयसंस्कृतवाङ्मये पर्यावरणस्य विविधानां पक्षाणां विलक्षणसमन्वयः प्रतिपदं दृश्यते । मन्त्रेऽस्मिन् पर्यावरणसम्बद्धानां, तत्त्वानां समन्वयस्य प्रकारः विलोकनीय : ।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं
शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥[१]

अद्य प्राचीनानां परम्पराणां पुनर्जीवनस्य कालः सम्प्राप्त अस्ति ।

अस्मिन् शोधप्रपत्रे मया समुन्मीलनं क्रियते यत् समस्तेऽपि विश्वस्मिन् यदि प्रकृतिं प्रति देवत्वभावः प्रादुर्भविष्यति तर्हि समस्तेषु जीवेषु अनुरागः प्रतिष्ठापितो भविष्यति, तथा अस्माकं पर्यावरणं सर्वथा प्रदूषणमुक्तं प्रकृत्या सह मानवानां सम्बन्धो मैत्रीपूर्णः स्यात्, यस्मात् सम्न्विता धरणीविकासस्य सङ्कल्पना सार्थका भविष्यति ।

डॉ. अनिल प्रताप गिरिः
सहायकाचार्यः
संस्कृतविभागः,
पाण्डिच्चेरीविश्वविद्यालयः, पाण्डिच्चेरी

[१] यजुर्वेदः ३६/१७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

वैदकवाङ्मये शब्दतत्त्वचिन्तनम्

दिनेशकुमारद्विवेदी

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते" इति महाभाष्यवचनेनास्य विचारतत्त्वस्य प्रयोजनमुपपन्नम् । शब्दस्य तत्त्वं शब्दतत्त्वमिति पष्ठीतत्पुरुषे शब्दश्चासौ तत्त्वमिति कर्मधारये समासे च शब्दतत्त्वं स्पष्टम्। निरुक्तं तु-अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तमिति।[१] सम्प्रति यास्काचार्यस्य निरुक्तं विदितमेव भारतीयैः पाश्चात्त्यैश्च विद्वद्भिः। अत्र शब्दतत्त्वमिति विषयमवलम्ब्य विचारः प्रस्तूयते ।

व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा[२] इत्यनेन व्याकरणे शब्दव्युत्पादनं जायते। शब्दतत्त्वं तु व्याकरणशास्त्रे परिशीलितम् । व्याकरणशास्त्रं तु व्याकृता वागिति तैत्तिरीयसंहितायां प्राप्यते।[३] अनेन व्याकरणेशब्दानुशासनं प्रधानभूतम् । अथ शब्दानुशासनमिति महाभाष्ये । तत्र व्याकरण-प्रयोजने रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनमिति यदुक्तम्, तत्तु वेदाश्रितमेव। निरुक्तं विद्यास्थानं[४] व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्।[५] तत्रार्थानुशासनं प्राधानभूतम्। निरुक्ते प्रतिपादिता अर्थाः शब्दाश्रिता

---

[१] ऋ. भा. भू. ५१ पृष्ठे
[२] महाभाष्ये १/१
[३] "वाग्वै पराच्य व्याकृता अवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन् ईमां नो वाचं व्याकुर्वीति.....तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते॥" तै. सं. ६/४/७/३
[४] अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ विष्णुपुराणे
[५] नि. १/५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विशेषतो वेदाश्रिता इति निरुक्तस्य वेदाङ्गत्वं सर्वथा प्रसिद्धम्। महाकविकालिदासेनापि रघुवंशमहाकाव्यस्यादौ शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वं प्रकटितम् -

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ (रघु. १/१)

महाभाष्ये पुनः - "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" [१] इति विवेचयता महर्षिणा पतञ्जलिनापि तयोर्नित्यत्वं प्रदर्शितम् । सकलवस्तुबोधनसमर्थः शब्द एवेति वाक्यपदीये। [२] आचार्यदण्डिमतानुसारेण शब्दप्रकाशेन प्रकाशितेयं पृथिवी। [३] वाक्यपदीये पुनः- **"इतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया"**[४] तथा **"अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः"**[५] इति प्राप्यते । शतपथब्राह्मणे - **"वाचं धेनुमुपासीत"**,[६] बृहदारण्यके **"वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म"**,[७] छान्दोग्योपनिषदि - **"वाग्वै तत् सर्वमिति"** प्राप्यते।[८] अनेन शब्दस्य महत्त्वं नितरां स्पष्टम्। निरुक्ते समुद्धृतोऽयमृग्वेदस्य मन्त्रो वाग्विवेचने तत्परः प्रतीयते -

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥[९]

---

[१] महाभाष्ये १/१

[२] न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वा.प. १/११७

[३] इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ (काव्यादर्शे)

[४] वा.पा. १/१२१

[५] तत्रैव १/१२७

[६] श.ब्रा. १/४

[७] वृहदारण्यके, ४/१

[८] यदु वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यत् न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत् सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥ छा.उ. ७/२/१

[९] ऋ.सं. १/१६४/४५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निरुक्ते दुर्गवृत्तौ मन्त्रस्यास्य व्याख्यायां विद्यते यत् तेषां पुनश्चतुर्णां पदानां त्रीणि गुहायां निहिता निहितानि नेङ्गयन्ति नार्थं प्रकाशयन्ति। तुरीयं चतुर्थभागम् एकं पदं मनुष्याः परिज्ञानाय वदन्ति । अस्मिन्नवसरे निरुक्ताचार्यो ब्राह्मणवचनं प्रस्तौति -

"अथापि ब्राह्मणं भवति - सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे। याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुस्तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणामिति।[१] परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीति चत्वारि वाक् पदानि विद्यन्ते । देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन् समुद्यति समीरणे तेनैव संस्कृते वायुना व्यापकत्वेनावस्थितः शब्दब्रह्मात्मको रवः परावागाख्यो मूलाधारेऽभिव्यक्तो भवति। नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्तो रवः मनोविषयतामुपगतः पश्यन्तीपदेनाभिधीयते । हृदयपर्यन्तमागच्छता तेनाभिव्यक्तो रवो मध्यमावागिति । एवं मुखकण्ठादिस्थानेषु तेन वायुनाभिव्यज्यमानो वैखरीपदाख्यः।[२]

तथा चोक्तं मञ्जूषायां नागेशेन स्फोटप्रसङ्गे -

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ॥
वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः ।
मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते ।
चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥

तत्र शब्दस्याभिव्यक्तिः कथं भवति ? इत्युच्यते -

आत्मा बुध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।

---

[१] मै. सं. १/११/५, निरुक्ते १३ अध्या.
[२] अलङ्कारकौस्तुभे

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥

प्राणमनोबुद्धिप्रसूतमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवाग्रूपेण स्थितं सत् स्वरूपस्याभिव्यक्तये शब्दरूपतां याति । यथोक्तं वाक्यपदीये -

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम् ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥

शब्दश्चार्थरूपेण विवर्तते -

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

अर्थोऽपि स्थूलविश्वरूपेण विवर्तमानो भवति -

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ।
छन्दोभ्य एव प्रथमं विश्वमेतद् व्यवर्तत ॥

अर्थात् सृष्टेर्विकासो वाग्ब्रह्मरूपबीजादेवाभवत् । अत्र श्रुतिरपि प्रमाणम् - "एकोऽहं बहु स्याम्" इति ।

ऋग्वेदे बहूनि सूक्तानि, अनेके मन्त्राश्च वाक्तत्त्वविषयकाः सन्ति । संहितासु, ब्राह्मणग्रन्थेषु, आरण्यकेषु, उपनिषत्सु च प्रतिशाखं वाक्तत्त्वरूपस्य शब्दब्रह्मणः चर्चा सङ्केतो वा वर्तत एव, षट्सु वेदाङ्गेषु, शिक्षा-निरुक्त-व्याकरणच्छन्दस्सु चतुर्षु वेदाङ्गेषु शब्दब्रह्मण एव विवेचनं विविधं कृतं वर्तते । ऋग्वेदकालादारभ्य अद्य यावद् भारतीयैर्मनीषिभिर्वाग्ब्रह्मणो मननं क्रियमाणमस्ति । दर्शनग्रन्थेष्वपि शब्दखण्डं विशेषं महत्त्वं भजते । अन्येषु परवर्तिषु ग्रन्थेषु यथास्थानं शब्दानां विशिष्टा निरुक्तयो निर्दिष्टाः सन्ति ।

यत्र तत्र वाक्तत्त्वज्ञानस्यावश्यकत्वविषयेऽप्युल्लेखो वरीवर्ति । ताण्ड्यमहाब्राह्मणस्य प्रथमाध्याये त्रयोदशे खण्डे आख्यायिकैका वर्तते, यदनुसारेण असुरैः सह सङ्ग्रामे देवानां विजयो वाचो नैपुण्येनाभवत् । एतद्विषये महाभाष्योद्धरणद्वयं निदर्शनकोटिमाटीकते- "तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पराबभूवुः" इति । "दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् । इति च । इन्द्रशत्रुर्वृत्र उच्चारणे स्वरवैगुण्यमात्राद् विनाशमगात् । अतो भारतीयसंस्कृतौ वाचः शुद्धिविषये महान् संरम्भः कृतो विद्यते । न केवलं कर्मगतं वैगुण्यं चिन्तनगतं वैगुण्यं वा हानिकरम्, अपि तु वाग्गतं वैगुण्यमपि हानये एव कल्पते । अत एव षडङ्गसहितानां वेदानां तत्रापि व्याकरणस्याध्ययनं वाग्वैभवसम्भृतानां ब्राह्मणानां कृते धर्मत्वेनाभ्युपगतमस्ति -

"ब्राह्मणेन निष्कारणं धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च । प्रधानं च षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम् ।" इति ।

रामायणकालेऽपि वाक्तत्त्वज्ञानविषये महान् आग्रह आसीत् । भगवान् रामो हनुमता सह साक्षात्कारे तद् व्याहृतां वाचं श्रुत्वा तं प्रशंसितवान् -

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहुव्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम् ॥

छान्दोग्योपनिषच्छ्रुतिरपि वाचो महत्त्वविषये व्याहरति - **'यद् वै वाङ् नाभविष्यत्, न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यत् न सत्यं नानृतं, न साधु नासाधु । वागेवैतत् सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्व।"**

इति ऋङ्मन्त्रे मनुष्यव्यवहृताया वैखरीवाचो विभिन्ना विषया सङ्केतिताः सन्ति । चत्वारि शृङ्गाणि- नामाख्यातोपसर्गनिपातरूपः पदविभागः, त्रयः पादाः- भूतभविष्यद्वर्तमानरूपः कालभेदः, द्वे शीर्षे-नित्यकार्यरूपः शब्दस्वरूपभेदः, सप्त हस्तासः- सप्त विभक्तयः । त्रिधा बद्धः- उरसि, कण्ठे, मूर्ध्नि । एतैः सर्वैः पदविज्ञानविषयाः सिध्यन्ति ।

अर्थानुरोधेन काश्चिद् निरुक्तयः असङ्गता इव प्रतिभान्ति । यथा - हृ = अभिहरन्ति अस्मै, द=ददत्यस्मै, यम् = एति स्वर्गलोकमर्थाद् हृदयम् (शतपथब्राह्मणे)। ऐतरेयब्राह्मणे ऐतरेयारण्यके च 'विश्वामित्र' शब्दे षष्ठीतत्पुरुष-समासः स्वीकृतोऽस्ति; किन्तु अस्मिन्नेवारण्यकेऽन्यत्र बहुव्रीहिः स्वीकृतोऽस्ति - विश्वं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मित्रं यस्य, तस्माद् विश्वामित्रः । तत्पुरुषस्वीकारे नपुंसकलिङ्गत्वादनुपपन्नेयं व्युत्पत्तिः ।

ऐतरेयारण्यके वर्णविचारो लभ्यते । यथा - 'यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरं, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राणः।' अत्र व्यञ्जनशब्देन स्पर्शवर्णा गृहीताः सन्ति । घोषशब्देन च स्वराः अर्द्धस्वराः अन्तःस्थवर्णाश्च । इदमन्यत्र स्पष्टमस्ति - पृथिव्या रूपं स्पर्शाः, अन्तरिक्षस्योष्माणः, सामवेदस्य स्वराः । चक्षुषो रूपं स्पर्शाः, श्रोत्रस्योष्माणः, मनसः स्वराः । प्राणस्य रूपं स्पर्शाः, अपानस्योष्माणः, व्यानस्य स्वराः । अत्र अन्तःस्थाः स्वरेष्वन्तर्भूताः अर्द्धस्वरत्वात् ।

छान्दोग्योपनिषद् व्याहरति- **'सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तश्च वक्तव्याः** । ऐतरेयारण्यकस्य प्रथमाध्याये पञ्चमखण्डे सन्धिविषयकं विवेचनमस्ति । यथा - 'पूर्वम् अक्षरं पूर्वरूपम्, उत्तरम् उत्तररूपम्, योऽवकाशः पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण सा संहिता।' अत्र माण्डूकेयेण ऋषिणा किमपि संशोधनं कृतम् । तत्र तत्पुत्रेणापि किञ्चित् संशोधनं कृतम् । संहिताविश्लेषणे माण्डूकेयाणां महत्त्वपूर्णं योगदानमस्ति । माण्डूकेयपुत्रेणैव अन्तःस्थाः पृथक्कृत्य वर्णानां विभाजनं चतसृषु श्रेणीषु कृतम् । संहिताया आध्यात्मिकं विश्लेषणमपि कृतमस्ति । तथा हि- पृथिवी पूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपं वायुः संहितेति माण्डूकेयः । वाक् पूर्वरूपं, मनः उत्तररूपं, प्राणः संहितेति ।

यद्यपि उपनिषत्सु ब्रह्मत्वमेव मुख्यतया प्रतिपादितम्; तथापि वाक्तत्त्वविषयका विचारा उपनिषत्स्वपि विकीर्णरूपेण यत्र तत्र लभ्यन्ते । तैत्तिरीयोपनिषदः 'शिक्षावल्ली' संहिती उपनिषदिति नाम्ना प्रसिद्धा ।

अनेन विवरणेन स्पष्टमिदं यत् संहिता-ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्सु षडङ्गेषु अनुक्रमणी- बृहद्देवता-प्रातिशाख्यादिषु वैदिकवाङ्मयेषु वाक्तत्त्वविषया विचारा भूयो विमृष्टाः सन्तीति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्दतत्त्वाश्रितं पदविभाजनं सर्वत्र महत्त्वपूर्णमिति यास्कसम्मतं पदविभाजनं द्रष्टव्यम् । पदविभागे यथार्थं पदमैन्द्राणामिति[१] ऐन्द्रसम्प्रदाय एकमेव पदं स्वीक्रियते। पाणिनिस्तु सुबन्ततिङन्तरूपेण पदस्य विधिद्वयं स्वीकरोति ।[२] केचिदाचार्याः पदस्य विभागत्रयं स्वीकुर्वन्ति । अनेनोपसर्गनिपातावेकतः कृत्वा सुबन्ततिङन्तावुसर्ग-निपाताश्च तयोर्विभागा भवन्ति। [३] केचनाचार्याः पदस्य पञ्चभेदान् स्वीकुर्वन्ति नामाख्यातोपसर्गनिपाताः कर्मप्रवचनीयाश्चेति।[४] ऋक्प्रातिशाख्ये,[५] यजुःप्रातिशाख्ये,[६] अथर्वप्रातिशाख्ये,[७] कौटिल्यस्यार्थशास्त्रे,[८] व्याकरणमहाभाष्ये[९] च पदस्य चतुर्धा विभागः स्वीकृतः ।

नामपदं तु - 'सत्त्वप्रधानानि नामानीति निरुक्ते । नामपदस्य व्याख्यायां दुर्गवृत्तौ- 'नमन्ति आख्यातशब्दे गुणभावेन, नमन्ति वा स्वमर्थमाख्यातशब्दवाच्ये गुणभावेनेति नामानि ।' नाम्नि सत्त्वस्य प्राधान्यं विद्यते । ऋक्प्रातिशाख्ये,[१०] यजुः प्रातिशाख्ये [११] , अथर्वप्रातिशाख्ये, [१२] कौटिल्यस्यार्थशास्त्रे [१३] च सत्त्वप्रधानानि नामानीत्येव स्वीकृतम् । बृहद्देवतायां तु -

शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते ।

---

[१] निरुक्ते दुर्गवृत्तिः १/१
[२] सुप्तिङन्तं पदम् - अष्टा. १/४/१४
[३] त्रीणि निपातोपसर्गावेकतः कृत्वा (निरु. दु. वृ. १/१)
[४] द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा । वा.प. जाति. १
[५] निरु. १/१
[६] नामाख्यातम् उपसर्गनिपाताश्चत्वार्याहुः पदजातानि शाब्दाः । ऋ.प्रा. १२/५/६९
[७] तच्चतुर्धा नामाख्यातोपसर्गनिपाताः । वाज. प्रा.शा. ८/५२
[८] चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि । ऋ.प्रा. १२/७
[९] तन्नाम येनाभ
[१०] सत्त्वाभिधायकं नाम । यजु. प्रा. ५/५४-५५
[११] नाम सत्त्वाख्यमुच्यते । अथर्वप्रा. २/१
[१२] तत्र नामसत्त्वाभिधायीति । कौ. अ. शा. १०/२८, पृ. ७२
[१३] अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयोः ॥ बृ.दे. १/४३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥ (बृ.दे. १/४२)

पुनश्च तत्रैव प्राप्यते यद् यत्र सर्वा विभक्तयो वचनलिङ्गयोर्भेदेनार्थेषु प्रयुक्ता भवन्ति, तन्न ।[१] नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्चेति नाम्नः[२] आख्यातजत्वं प्रसिद्धम् । शाकटायनप्रभृतयो वैयाकरणा यास्कप्रभृतयो निरुक्तकाराश्चाख्यातजसिद्धान्तं स्वीकुर्वन्ति । आधुनिकभाषाविज्ञानेऽपि सिद्धान्तोऽयं स्वीकृतः ।

भावप्रधानमाख्यातमित्याख्याते भावस्य प्राधान्यं निरुक्ते विवेचितम् । दुर्गवृत्तौ तु- "आख्यायते गुणभावेन वर्तमाना अनेककारकप्रविभक्ता स्फुरमाणेव प्रधान-द्रव्यभावाभिव्यक्त्युन्मुखीभूता क्रिया । तस्याश्च प्राधान्येन प्रवर्तमानो भावः स्वात्मलाभप्रधान इत्याख्यातः ।[३] अत आख्याते प्रधानभावेन क्रिया गौणत्वेन द्रव्यञ्च द्रव्यञ्च यत्र तदाख्यातमिति स्पष्टमेव । ऋग्वेदप्रातिशाख्ये,[४] यजुःप्रातिशाख्ये,[५] अथर्वप्रातिशाख्ये[६] च क्रियाया वाचकत्वमेवाख्यातम् । कौटिल्यस्यार्थशास्त्रे,[७] महाभाष्ये[८] च क्रियायाः प्राधान्यमेवाख्यातमित्युक्तम् । बृहद्देवतायामपि भावप्रधानमाख्यातमिति प्राप्यते।[९] निरुक्ते आख्यातस्य सूक्ष्मविश्लेषणमुपन्यस्तम् - "पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचति इत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् ।[१०] तत्र

---

[१] निरु. १/१
[२] निरु. दु.वृ. १/१/
[३] निरु. दु. वृ. १/१
[४] क्रियावाचकमाख्यातम् । ऋ.प्रा. १२/८/७०७
[५] यजुःप्रा., ८५४-५५
[६] आख्यातं यत् क्रियावाचि । अथर्वप्रा. १०/२८
[७] अविशिष्टलिङ्गमाख्यातं क्रियावाचि । कौ. अ. शा. पृ. ६२
[८] क्रियाप्रधानमाख्यातं भवति । महाभाष्ये ३/२
[९] बृ.दे. २/१२१
[१०] निरु. १/१/१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भावविकारेषु-षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः इत्युपस्थापयता महर्षिणा यास्केन भावविकाराणां विश्लेषणं कृतम्।

प्रादयः[१] **उपसर्गाः क्रियायोगे**[२] इत्यष्टाध्यायीसूत्राभ्यामुपसर्गाः स्पष्टाः। दुर्गवृत्तौआख्यातमुपगृह्यार्थविशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीत्युपसर्गाः।[३] शाकटायनस्तु 'न 'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति मन्यते।'[४] फलतः पाणिनेः 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इति कथनं शाकटायनसिद्धान्तानुकूलम्। परमत्र यास्केनाचार्यगार्ग्यस्याभिम-तमुपस्थापयता प्रकाशितं यत्- निर्बद्धा अपि उपसर्गाः अर्थान् प्रकाशयन्ति, यतो हि 'उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः।' वेदेषु निर्बद्धा अप्युपसर्गा अर्थवन्तः प्रयुक्ताः सन्ति। पुनश्च निरुक्तेऽपि- "आ इत्यर्वागर्थे प्परेत्येतस्य प्रतिलोम्यमभीत्याभिमुख्य-मित्यादय उपसर्गाणामर्थाः प्रदर्शिताः।

निपातास्तु उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति नानाप्रकारकेष्वर्थेषु प्रयुक्ता भवन्तीति कस्मिंश्चिदेवार्थे यः प्रसिद्धो गुणस्तदन्यस्मिन्न प्रसिद्धस्तद्गुणेऽर्थे शब्दमात्रेण यदुपसंयोज्य तद्गुणप्रकाशनं क्रियते सोपमा। अनेनोपमार्थे कर्मोपसङ्ग्रहार्थे पदपूरणार्थे च निपाताः प्रयुक्ता भवन्ति। निपातानां त्रिष्वर्थप्रधानेषु निपातेष्वन्येऽपि विभागा अन्तर्लीना भवन्ति। निषेधार्थे, हेत्वर्थे, निन्दार्थे, पूजार्थे, विचारणार्थे, विनिग्रहार्थे, अनुपृष्टे, हेत्वपदेशे, विद्याप्रकर्षे चापि प्रयुक्ता निपाता यास्केन विवेचिताः सन्ति।

उपसर्गाणां निपातानां च वाचकत्वं द्योकत्वं वेति जिज्ञासायां निरुक्ते विवेचनं प्राप्यते। उपसर्गाणां निपातानां येऽर्था निरुक्ते प्रतिपादिता वैदिकोदाहरणेषु च दर्शितास्ते वाचकत्वमनुसरन्ति। अन्ये च द्योतकत्वमपि दधति वैदिकमन्त्राणामर्थ-प्रकाशनाय प्रथमं यास्काचार्येणैव निर्वचनं कृतमिति शब्दानां निर्वचने ध्वन्यात्मकस्यार्थात्मकस्य, दृश्यात्मकस्य, शब्दानुकृतेर्भौगोलिकस्यैतिहासिकस्य

---

[१] पा. अष्टा. १/४/५४
[२] तत्रैव १/४/५९
[३] निरु. दु. वृ. १/१
[४] तत्रैव १/९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पौराणिकस्याधारस्य च कल्पनं सर्वथा भाषावैज्ञानिकतामेव दधाति । निर्वचनक्रमे प्रत्यक्षवृत्त्या परोक्षवृत्त्यातिपरोक्षवृत्त्या च तेषां प्रदर्शनं सत्यमेव तेषां शब्दानामर्थप्रकाशनाय सर्वथा महत्त्वसम्पन्नम् ।

निष्कर्षतः कथनमिदं सर्वथा सङ्गतं प्रतीयते यन्निरुक्ते शब्दतत्त्वस्य निरूपणं महनीयमस्ति । शब्दस्य नित्यत्वं व्यापकत्वं च दार्शनिकविचारपथमायाति । वैयाकरणा अपि शब्दस्य नित्यत्वं स्वीकुर्वन्तीति पूर्वमेव दर्शितम् । शब्दानां व्यापकत्वनिरूपणे श्रीमदौदुम्बरायणस्य मतं पूर्वपक्षे स्थापयता यास्काचार्येणोत्तरपक्षे निरस्तम्। तथा च तेषां व्यापकत्वमुपस्थापयता तेन स्वीया भाषावैज्ञानिकी दृष्टिः प्रदर्शिता । **'अणीयस्त्वाच्च शब्देन सञ्ज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके'** इति प्रतिपादयता तेन शब्दस्य व्यावहारिकोपयोगो दर्शितः. । शब्दविभागेऽपि दृष्टिरस्य विशिष्टा वर्तते । यतो हि पाणिनिप्रभृतिभिः शाब्दिकैः सुबन्तं तिङन्तं च पदसञ्ज्ञं स्यादिति पदस्य विभागद्वयं संस्तुतम् । कैश्चिच्छब्दकारैस्तु यास्कस्य पदविभाग एव स्वीकृतः । महाभाष्यकारः पतञ्जलिः स्वयं विषयेऽस्मिन् यास्कं प्रति सम्मानं दर्शयति। यास्केन स्वरसंस्कारयुक्ताः शब्दा दृष्टव्ययेन नामाख्यातसञ्ज्ञकाः प्रतिपादिताः, पुनश्चादृष्टव्ययशब्दा अव्ययरूपा उपसर्गनिपातभूताः स्वीकृताः । पाणिनिरपि व्युत्पन्नाव्युत्पन्नान् शब्दान् स्वीकरोति । विषयेऽस्मिन् पाणिनेर्दृष्टिस्तु सूक्ष्मा; परं पदविभागेषु यास्कस्य दृष्टिरपि महत्त्वपूर्णाऽस्तीति नाम्न आख्यातजत्वं भावविकारेषु षड्विधत्वमुपसर्गनिपातानामर्थवत्वं पदविरहिते स्वतन्त्रेऽपि तेषामर्थप्रकाशकत्वञ्चेत्यादीनि शब्दतत्त्वानि पृथक् पृथगनुसन्धेयानीति दिक् ।

दिनेशकुमारद्विवेदी
शोधच्छात्रः
संस्कृत-विद्या-धर्मविज्ञानसङ्कायः
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

वेदेषु व्रतविमर्शः

लक्ष्मण पन्थी

अनन्तानन्तचराचरव्याप्ताखिलब्रह्माण्डनायकसृष्टिस्थितिसंहारव्यापारव्यापृक्तना-दर्शनदृष्ट्या नानास्वरूपपरिकल्पितास्य परंब्रह्मणः पञ्चभौतिकाख्यसृष्टेः सञ्चालनाय स्वयं नानापथानां, व्यवस्थानां, कर्मणां, स्वरूपाणां ,चलाचलानां, स्थावरजङ्गमानां, आकाशपातालभूर्भुवादिचतुर्दशलोकानां स्थूलानां सूक्ष्माणां विचाराणां च समञ्जनं ततान । यद्यपि इमे सर्वे अपि क्रमाः दृष्ट्या विश्यङ्खलितं विशीर्णं च प्रतिभान्ति तथापि स्वस्मिन् सर्वे लब्धक्रमाः राजन्ते । एषा महिमा बहुलभूतस्यानन्तशक्तिसम्पन्नस्यैव । जगति यानि यानि वस्तूनि लोकलोचनीभूतानि सन्ति, तानि सर्वाणि अपि कमपि निश्चितं व्रतं निर्वहन्ति । व्रतं विना जीवनं निरर्थकमेव । स च व्रतः कः ? इति नानाविदुषां मते मयाऽत्र विवेच्यते । व्रतशब्दस्य गणना संस्कृतशास्त्रेषु विद्यमानानां शब्दानां मध्ये बहुप्राचीनकालादेव व्यवहृता भवति । व्रतशब्दस्य व्युत्पत्तिविषये अर्थविषये च विदुषां महान् मतभेदो दरीदृश्यते । तेषां सङ्क्षेपेणात्र शोधपत्रे समुपस्थाप्यते । सेण्ट पीटर्सवर्गकोशे व्रतशब्दस्य उत्पत्तिः वृञ् वरणे इत्यस्माद्धातोः वरणार्थे अर्थात् चयनार्थे स्वीकृतो विद्यते । तथा च तस्मिन् कोशे तस्य शब्दस्य नानार्थाः एवंविधाः उपलब्ध्यन्ते । यथा – १- सङ्कल्पः, आदेशः, विधिः निर्दिष्टा व्यवस्था । २- वशता, आज्ञापरकता, सेवा, ३- स्वामित्वम् अथवा रिक्थम् । ४- व्यवस्था, निर्धारित उत्तराधिकारः, क्षेत्रम् । ५- वृत्तिः, व्यापारः, आचारिकं कर्म, प्रवृत्तिसंलग्नता, आचारोऽथवा रीतिरिति । ६- धार्मिकं कार्यम् ,उपासना, कर्तव्यता, ७-कस्यापि अनुष्ठानस्य धार्मिकतया तपस्यासम्बन्धीकर्म, अथवा आचरणसेवनम् , सङ्कल्पः पुनीतः कर्म वा । ८- सामान्यरूपेण सङ्कल्पः, निश्चयार्थे वा । ९- अन्यो

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विशिष्टार्थोऽपि । मैक्समूलरमतेऽपि वृ धातोः व्रतशब्दस्य सिद्धिर्जायते । तस्यार्थः रक्षणम् , तेन तत्र प्रोक्तं यत् अस्य शब्दस्यार्थः भावे आसीत् परन्तु वयं आवेष्टितार्थे, रक्षणार्थे, तथा चाग्रे अस्यार्थस्य विचारप्रसङ्गे निर्णीतः, निश्चितः, विधिः, परन्तु कालान्तरे तस्यार्थस्य विकासो जातः, तस्मिन् विकासक्रमे तस्यार्थः आधिपत्यार्थे सत्तार्थे च व्यवहृतो जातः । ह्विटनी महोदयः तस्य मैक्समूलरमतस्य समर्थनं न चकार । तथा च सेन्टपीटर्स महोदयानां कोषात् बहिर्निष्काष्य घोषणां कृतवान् यत् वृ वरणार्थकधातोः व्युत्पत्तिर्न समीचीना । एवमपि तैः प्रतिपादितं यत् वृ इत्यस्य धातोः सङ्कल्पः अनुशासनं नायाति । वृ इत्यस्य वरणं तथा च सम्मानस्वरूपमागच्छति । वृ इति धातोः त प्रत्ययस्य आगमनस्य वा प्रयोगः अल्पशः एव उपलभ्यते । व्रतशब्दस्य यदि कोऽपि तुल्यार्थकः शब्दः समुपलभ्यते स च मर्तः इति । यस्य विधानं मृ धातोः भवति तेषां मते व्रतशब्दः वृतु वर्तने इत्यस्यमाद्धातोः प्रवर्तने , प्रारम्भे अर्थे च व्युत्पादितो विद्यते । तेषां मते वृ धातोः अ प्रत्यये कृते सति व्रतशब्दस्य व्युत्पत्तिं सम्पादयितुं शक्यते । तेषां मते व्रजशब्दः व्रतशब्दतो व्युत्पादितो इति नियन्त्रयितुं शक्यते । तथा च तस्य मते ऋग्वेदे व्रतशब्दः बहुधा गतिसम्बन्धी क्रियापदे प्रयुक्तो विद्यते । यथा- चरः, सश्च, अथवा स च इत्यादिभिः सह बहुधा प्रयुक्तो दृश्यते । वी.एम.आप्टे महोदयः अपि ह्विटनीमहोदयस्य वार्तां स्वीकृतवान् । तथा चोक्तं वृत् धातोरेव व्रतशब्दस्य सिद्धिर्जायते । तथा च सहर्षम् इदमपि प्रतिपादितवान् यत् वृ इत्यस्यार्थः वरणं, चयनं, रक्षणम् , आवेष्टितकरणं वा न सम्भवति । सः प्रोक्तवान् यत् ऋग्वेदे प्रयुक्ताः ये व्रतशब्दाः विद्यन्ते तेभ्यः सङ्कल्पेच्छादेशाज्ञाकारितानिर्दिष्टहेतवः इत्यादयः अर्थाः निर्दिष्टाः सन्ति । वृत् धातोरर्थः न हि केवलं प्रगतिः प्रवृत्तिः आरम्भमात्रं वा अपितु अभिमुखीभवनं, भ्रमणं, स्वाभिमुखीभवनमपि अस्ति । अतः व्रतशब्दार्थः केवलो विधिः, कर्म वा आचारविधिं दर्शयति । सहैव चक्राकारिकागतिः, परिभ्रमणं तथा च वृत्ताकारमार्गस्यापि अर्थं प्रत्यायति । उपर्युक्तमतद्वयमपि वैदिकदृष्ट्या नोचितम् । यतो हि वृत्धातोः व्रतशब्दस्य व्युत्पत्तिरमान्या । व्रतपदेषु यत्र अभि ,आ, नि, परि, प्र, अथवा वि नामकस्योपसर्गस्य यदा प्रयोगः प्रतिभाति तदा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मूलार्थस्य प्रतीतिर्न जायते। यतो हि उपसर्गप्रयोगेण धातोरर्थपरिवर्तनं स्वत एव भवति। उक्तं च-

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ।। (सिद्धान्तकौमुदी तृतीयभागः)

वृत् शब्दस्य साक्षात् अर्थः भवति भवनम् ,तिष्ठनम् , पालनम् इत्यादिः । ऋग्वेदे व्रतधातोः प्रयोगः उपसर्गं विना न दृश्यते । प्रायः अग्रे पृष्ठे वा उपसर्गस्य प्रयोगः परिपालितोऽस्ति । आप्टेमहाशयान्यथादृष्टिं कृत्वा आह, बहुधा विद्वांसः व्रतशब्दस्यार्थः विधिविधानादेशयज्ञसङ्कल्पनिर्दिष्टहेतुकर्तव्यादि अर्थेषु प्रयोगं कुर्वन्ति। सीमिततया च व्यवहरन्ति । तेषां मते ऋग्वेदे प्रयुक्तस्य व्रतशब्दस्यार्थः वृत्ताकारमार्गः इति पक्षं न लक्ष्यगोचरी कृतो विद्यते । अपितु तेषां मते ऋग्वेदे प्रयुक्तस्यास्य व्रतशब्दस्यार्थः स्वर्गिको पथः, दिव्यपरिक्रमा, काले काले देवानां स्वतश्चतुर्दिग्भ्रमणम्, तेषां मते कमपि देवमधिकृत्य धार्मिकविधीनामर्थविशेषो वा व्रतो विद्यते । बालगङ्गाधरतिलकमहोदयः स्वकीये "ओरायन" ग्रन्थे लिखितवान् यत् ऋग्वेदे प्रयुक्तव्रतशब्दस्यार्थः सत्यपथः, राशिचक्रस्य विस्तृतामेखला, यस्यातिक्रमणं ज्योतिष्मान्तारागणाः कदापि न कुर्वन्ति । आप्टेमहोदयस्य मतमिदं यत् ऋग्वेदे प्रयुक्तस्य ऋत् शब्दस्य अर्थो भवति राशिचक्रस्य मेखला । परन्तु मतमिदं बहूनां विदुषां मते न समीचीनं प्रतिभाति । ऋग्वेदे प्रयुक्तस्य ऋत् शब्दस्यार्थं त्रिषु अर्थेषु प्रयुक्तो परिलक्ष्यते । १- प्रकृतिर्गतिः,२-अखिलब्रह्माण्डस्य नियन्त्रिता व्यवस्था, ३-सः पथः येन आदित्यमण्डलस्य दलसमुदायः ऋतं प्रति गच्छति ।

यं बाहुतेव पिप्रति पान्ति मर्त्यं रिषः । अरिष्टः सर्वेएधते ।।[१]
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ।।[२]

[१] ऋग्वेदः १.४१.२
[२] ऋग्वेद १.१६४.११

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अथवा ऋतार्थः यत्र द्वादशसङ्ख्काः शलाकाः (अर्थात् द्वादशसङ्ख्काः राशयः विद्यन्ते । परिश्रान्तिरहितो भूत्वा आकाशे परिक्रमां सम्पादयन्ति । परन्तु ऋतशब्दस्य इमे अर्थाः व्रतशब्दार्थे प्रकाशं न विकसयन्ति । ऋतव्रतयोः कापि तुलना नास्ति । आप्टेमहोदयस्य मतं न समीचीनं प्रतिभाति । ऋतशब्दः भारोपीयः परन्तु व्रतशब्दः हिन्देरानी अपि अस्ति । भारोपीयस्तु नास्त्येव। आप्टेमहाशयो लिखति व्रतशब्दार्थयोः विकासस्य द्विधारूपमुपलभ्यते । उभावपि समानौ एव । यथा दिव्यस्वरूपं मानवीयस्वरूपञ्च । परन्तु ऋतशब्दस्यार्थे एवं वैभिन्न्यं न प्रतिभाति । एतेषां मते व्रतशब्दस्य दिव्यस्वरूपे षट् रूपाणि, तथा च मानवीयस्वरूपे चत्वारः अर्थाः उपलभ्यन्ते । आहत्य दिव्यमानवीयस्वरूपमधिकृत्य दश अर्थाः राजन्ते । तेषां मते व्रतार्थम् आङ्ग्लभाषायां षष्ठिअर्थाः निर्दिष्टाः सन्ति । परन्तु ऋग्वेदे २२० पर्यायव्रतशब्दाः समागताः सन्ति । इदानीं ऋग्वेदमधिकृत्य व्रतस्वरूपं विवेच्यते। व्रतशब्दः वृ वरणे इत्यस्माद्धातोः सिध्यति । अस्माद्धातोः कन्याद्वारावरवरणस्याथवा अभिभावकविधया वरचयनस्य या परिक्रिया इति शब्दार्थः आगच्छति ।

आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः ।
सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् ॥[१]

एवम्- स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वरा ऽग्निरासीत् पुरोगवः ॥[२]
सोमो वधूयुरभव दस्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्ती मनसा सवितार्ददात् ॥[३]

वरणं तु वरणकर्तुः इच्छायाः सङ्कल्पस्य वा परिणामो भवति । अनेन आगच्छति यत् वृधातोः इच्छाऽपि तात्पर्यं प्राप्नोति । एवं सिध्यति यत् व्रतशब्दः वृधातोः तप्रत्यये

[१] ऋग्वेदः९.१०१.१४
[२] ऋग्वेदः१०.८५. ८
[३] ऋग्वेदः१०.८५.९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कृते सति स्वरूपमधिगच्छति । व्रतार्थः सङ्कल्पः । अत्र विशेषः यो मनुष्यः शक्तिसम्पन्नो भवति, अधिकारी वा भवति तस्येच्छा अन्येभ्यो विधिरादेशो वा भवति। परन्तु भक्ताः स्वयमेव दैवनिर्धारितस्य आदेशस्य स्वतः परिकल्पनां कृत्वा परिपालयन्ति । तस्य तात्पर्यं भवति आज्ञापालनकार्यस्य कर्तव्यम् । यदा आदेशाः पालिताः भवन्ति तथा च बहुदिनं यावत् पारिपालिताः भवन्ति तदा तानि कर्तव्यानि अनुग्रहबन्धयुक्तानि परिचितानि भवन्ति तदा तानि परम्परागतानि आचारव्यवहारस्वरूपं प्राप्नुवन्ति । यदा जनाः देवसम्पादितकर्मणां नियमानां वा स्वजीवने निर्धारितकर्म स्वीकृत्य आचरन्ति तदा धार्मिकोपासना इति कर्तव्यस्य सृष्टिर्जायते । यदा कोऽपि देवानां विशिष्टानुग्रहं प्राप्तुं स्वकीयं भोजनं वस्त्रादिकं आचरणादिकं वा त्यजति तदा सः पुनीतसङ्कल्पस्य धार्मिककर्मणः स्वरूपं धारयति । एवं प्रकारेण वृ इत्यस्माद्धातोः व्युत्पन्नो व्रतशब्दः श्रुतिपथभूतस्यार्थस्य समुपस्थापको भवति । यथा आदेशः, विधिः, आज्ञापालनम्, कर्तव्यता, धार्मिकता, नैतिकव्यवहारः, धार्मिकोपासना, आचरणम्, पुनीतव्यवहारः, गभीरसङ्कल्पः, स्वीकरणम् अथवा आचरणसम्बन्धी कश्चन सङ्कल्पः । ऋग्वेदप्रतिपादितव्रतशब्दस्यार्थः एतेषु एव सङ्घटितो भवति । अत्र ह्विटनी एवम् आप्टेप्रतिपादितस्यार्थस्य मतमतान्तरस्य वा ग्रहणं न सम्भवति । सारतः वक्तुं शक्यते यत् आप्टेप्रतिपादितस्य व्रतशब्दस्य व्युत्पत्तिःअनुचिता एव । महर्षियास्कप्रतिपादितस्य व्रतशब्दस्य पञ्चविंशतिशताब्दीतः पूर्वमेव प्रचलमानं सिद्धान्तं प्रायः सर्वैः सज्जनाः विद्वांसः स्वीकुर्वन्ति। तत्र वृधातुरेव आधारत्वेन स्वीकृतो विद्यते । अत्रैको नवीनो विषयः यत् यस्य समाजे महती प्रसिद्धिः विद्यते । ऋतशब्दः, व्रतशब्दः, तथा च धर्मन् शब्दः । ऋग्वेदे धर्मन् शब्दः क्वचित् पुँल्लिङ्गे विशेषणरूपेण तथा च क्वचित् नपुंसकलिङ्गे प्रयुक्तो दृश्यते ।

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्। यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्[1] ।।
इमं मस्त्यामुभयेऽकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम्।

[1] ऋग्वेदः१.१८७.१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अक्तुं न यह्वमुषसः पुरोहितं तनूनपातमरुषस्य निंसते ॥[१]
त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव ।
कृष्णा रूपाण्यर्जुना वि वो मदे विश्वा अधि श्रियो धिषे विवक्षसे ॥[२]

त्वं धर्माण आसते इत्यत्र पुँल्लिङ्गे । अन्यस्थले नपुंसकलिङ्गे,अतो धर्माणि धारयन् ।

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ।।[३]
समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि देवानां दूत उक्थ्यः ।।[४]
वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः । वृषा धर्माणि दधिषे ।।[५]

एतेषु मन्त्रेषु धर्मस्यार्थः भवति धार्मिकं कर्म, यज्ञो वा । स्पष्टतः व्रतशब्दस्य योऽर्थः तस्य धर्मन् शब्दस्यार्थः सन्निकटार्थे ।

धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।[६]
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।[७]
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।[८]

इत्यादिमन्त्रेषु यज्ञानां प्रथमा धर्मन् सञ्ज्ञा ।

समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा।[९] मन्त्रे धर्मा इति ,
धर्माणि सनता न दूदुषत् ।[१०]

सनता धर्माणि । यत्र तत्र धर्मस्य वास्तविकार्थो नास्ति । यथा

---

[१] ऋग्वेदः १०.९२.२
[२] ऋग्वेदः १०.२१.३
[३] ऋग्वेदः १.२२.१८
[४] ऋग्वेदः५.२६.६
[५] ऋग्वेदः९.६४.१
[६] ऋग्वेदः१.१६४.४३
[७] ऋग्वेदः१.१६४.५०
[८] ऋग्वेदः १०.९०.१६
[९] ऋग्वेदः ३.१७.१
[१०] ऋग्वेदः ३.३.१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कृणुते स्वाय धर्मणे ।[१]

धर्मणा मित्रावरुणा ।[२]

इत्यादिमन्त्रेषु निर्दिष्टनियमस्याचरणम् इत्यर्थः । क्वचित् क्वचित् धर्मस्यार्थो व्रतरूपेणापि निर्दिष्टमस्ति । यथा

अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ।[३]

इति मन्त्रे भक्तः प्रार्थयति भो वरुण ! यदा विमोहवशात् कर्मणि असावधानी जाता तदा भवान् मम कामपि हानिं मा करोतु ।

इन्द्र सोमं पिब ऋतुना ऽऽ त्वा विशन्त्विन्दवः । मत्सरासस्तदोकसः ।।[४]

ऋग्वेदस्य मन्त्रे -

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा ।

द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ।।[५]

हे द्युलोक ! तथा पृथिवीलोक ! भवान् जलयुक्तसुन्दररूपवान् सन् भुवनस्याश्रयदाता अस्ति । मधुरान्नस्य रसस्य च दाता, अमरबलवान् चास्ति । भवन्तौ उभावपि वरुणाधिकरणवन्तौ स्तः ।

इन्द्राग्नी युवं सु नः सहन्ता दासथो रयिम् ।

येन दृळहा समत्सु वीळु चित् साहिषीमह्यग्निर्वनेव वात इन्नभन्तामन्यके समे ।।[६]

इति मन्त्रे वर्णितमस्ति यत् स्वर्गस्य या निश्चयात्मिका स्थितिः सा वरुणदेवस्य व्रतेषु एकं व्रतमस्ति । ऋग्वैदिकमन्त्रेषु प्रयुक्तानां व्रतधर्मनादिशब्दानां समानार्थत्वं प्रतीयते । परन्तु तेषु एव एवं भूताः अपि मन्त्राः सन्ति येषां ऋतः, व्रतः, धर्मन् एतेषां

---

[१] ऋग्वेदः ४.५३.३
[२] ऋग्वेदः ५.६३.७
[३] ऋग्वेदः ७.८९.५
[४] ऋग्वेदः १.१५.१
[५] ऋग्वेदः ६.७०.१
[६] ऋग्वेदः ८.४०.१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सामूहिकतया उपस्थितिर्न भवति अपितु क्वचिद् द्वयोः अर्थयोः क्वचित् त्रयाणामर्थाणां वा प्रतीतिर्जायते । ध्यातव्यमिदं यत् अथर्ववेदस्य ये अंशाः यस्य कृते पाश्चात्याः विद्वांसः वदन्ति यत् धर्मशब्दः धर्मनर्थे प्रयुक्तो विद्यते । यथा-

सूर्य चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ।।[१]

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ।।[२]

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया ।
ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम् ।।[३]

भोः मेधाविन् ! मित्र ! वरुण ! भवन्तौ जगतः कल्याणार्थं वृष्ट्यादिकर्मणा यज्ञादिव्रतानां रक्षणं कुरुतः । जलप्रदातृमेघस्य सामर्थ्यात् यज्ञैः सम्पूर्णस्यास्य लोकस्य प्रकाशनं कुरुतः। भवन्तौ एव पूजनीयस्य सूर्यदेवस्यापि स्थापनमपि साधयतः ।

व्रतशब्दः तथा च धर्मन् शब्दः ऋग्वेदस्य नानामन्त्रेषु प्रयुक्तो विद्यते । यथा-

व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना । नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये ।।[४]

यो वामृजवे क्रमणाय रोदसी मर्तो ददाश धिषणे स साधति ।
प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि युवोः सिक्ता विषुरूपाणि सव्रता ।।[५]

ऋतस्य देवा अनु व्रता गुर्भुवत्परिष्टिद्यौर्न भूम ।
वर्धन्तीमापः पन्वा सुशिश्विमृतस्य योना गर्भे सुजातम् ।।[६]

---

[१] अथर्ववेदः १८.२.७
[२] अथर्ववेदः १४.१.५१
[३] ऋग्वेदः ५.६३.७
[४] ऋग्वेदः ५.७२.२
[५] ऋग्वेदः ६.७०.३
[६] ऋग्वेदः १.६५.३-४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन्वरुण मित्र चारु ।।[१]
दैव्या होतारा प्रथमा न्यृञ्जे सप्त पृक्षासः स्वधया मदन्ति ।
ऋतं शंसन्त ऋतमित्त आहुरनु व्रतं व्रतपा दीध्यानाः।।[२]
परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा ।
द्यावापृथिवी वरुणाय सव्रते घृतवत् पयो महिषाय पिन्वतः।।[३]

विचाराचारसारसंसारे चित्तालोडनविलोडनप्रक्रमे निष्कर्षोऽयं यत् ऋततत्त्वं तादृशं तत्त्वं येन सम्पूर्णस्यास्य ब्रह्माण्डस्य व्यवस्थां सम्पादयति । यत् तत्त्वमतिप्राचीनकालादेव प्रवर्तमानमस्ति । व्रतस्य तात्पर्यमिदं यत् ते विधयः ये सर्वेषां देवानां व्यक्तीनां वा व्यक्तिगतरूपेण देवाः निर्धारिताः सन्ति । धर्मन् शब्दस्यार्थः धार्मिकं कृत्यं यज्ञो निर्दिष्टो नियमो वा । ऋतस्य या धारणा प्रायः लुप्तप्राया जाता । तथा च पृष्ठभूमौ विलुप्ता जाता । सत्यं जनाः आत्मसात् कृतवन्तः। धर्मन् व्यापकधारणावत् स्वीकृतो विद्यते । व्रततत्त्वस्य धारणा समाजस्य समग्रस्य अथवा प्रतिव्यक्तिजनस्य वा पुनीतसङ्कल्पानामाचरणसम्बन्धीनियमानां वा परिकल्पनावत् राजते । इति शम् ।

डॉ. सुधाकरमिश्रः
(सहायक आचार्यः व्याकरणविभागे)
श्रीसीतारामवैदिकादर्शसंस्कृतमहाविद्यालयः,
७/२, पी.डब्ल्यू.डी. रोड, कोलकाता-७०००३५

[१] ऋग्वेदः २.२७.८
[२] ऋग्वेदः ३.४.७
[३] ऋग्वेदः १०.६५.८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

ऋग्वेदीयप्रथमसूक्तस्य सायणस्कन्दस्वामिभाष्ययोः काचित् सङ्क्षिप्ता तुलना

पियोली पालः

ऋग्वेदस्य प्रथमसूक्तम् अग्निदेवताकम्। सूक्तेऽस्मिन् नव मन्त्राः सन्ति। गायत्रीच्छन्दसा निबद्धेषु मन्त्रेष्वेतेषु अग्निदेवस्य स्तुतिः कृता अस्ति। ऋग्वेदस्य भाष्यकारेषु प्रसिद्धयोः भाष्यकारयोः श्रीसायणस्कन्दस्वामिनोः भाष्ययोः अवलम्बनेनं तुलनात्मकः कश्चित् प्रबन्धः इदानीं प्रस्तूयते। सायणाचार्यापेक्षया श्रीस्कन्दस्वामी परवर्त्तीभाष्यकारो भवतीति तदीयभाष्ये श्रीसायणाचार्येण प्रतिपादितमर्थमतिरिच्य केषुचित् स्थलेषु कश्चित् नूतनोऽर्थः श्रीस्कन्दस्वामिना स्वाभाविकतया प्रतिपादयितुं शक्य इति सम्भाव्यते। एतदर्थमेव अत्र प्रबन्धे कश्चित् प्रयासः।

'**अग्निमीळे पुरोहितम्**' इत्यादिप्रथममन्त्रे देवशब्दस्य दानादिगुणयुक्तोऽग्निरिति अर्थः सामान्यतः स्वीकृतः। श्रीस्कन्दस्वामिना तु श्रीसायणोक्तेनार्थेन सह अन्योऽपि अर्थः स्वभाष्ये प्रकाशितः। तन्मते पुरोहितशब्दो व्युत्पन्नशब्दः। अतः मन्त्रस्थस्य यज्ञस्येति पदस्य देवम् इत्यनेन पदेन सम्बन्धः। अतः यज्ञस्य देवम् इत्यर्थः श्रीस्कन्दस्वामिना स्वीकृतः। तथा च यज्ञस्य दाता दीपयिता वा अग्निरिति अर्थो भवति। अतएव श्रीस्कन्दस्वामिना उक्तम् - "**अथवा पुरोहितशब्दः क्रियाशब्दः। पूर्वस्यां दिशि निहितमाहवनीयात्मना स्थापितम् । यज्ञस्येत्येतत्तु देवमित्यनेनं सम्बध्यते। यज्ञस्य दातारं दीपयितारं वा। यज्ञं हि देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति, तदायत्तत्वात्। दीपयति च।**"

एवमेव मन्त्रस्थस्य होतृशब्दस्य व्याख्याप्रसङ्गे श्रीसायणाचार्येण होतृनामकऋत्विक् अग्निरिति स्वप्रतिपादितस्यार्थस्य दार्ढ्याय ऐतरेयब्राह्मणग्रन्थः उद्धृतः। श्रीस्कन्दस्वामी श्रीसायणोक्तमर्थमङ्गीकृत्यापि होतृशब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्यम् आह्वातृरूपमर्थमपि स्वीकृतवान् । तथा चोक्तं श्रीस्कन्दस्वामिना - "अथवा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ऋत्विग्घोतृशब्दावपि क्रियाशब्दावेव। ऋतावृतौ यष्टारम् ऋत्विजम्। यो यो यागकालस्तत्र तत्र यष्टारमित्यर्थः। होतारमाह्वातारम्।"

'अग्निः पूर्वेभिः' इत्यस्य द्वितीयमन्त्रस्य व्याख्याप्रसङ्गे श्रीस्कन्दस्वामिना कश्चिद्भिन्नः क्रमोऽनुसृतः यस्य चर्चा सायणभाष्ये न कृता। श्रीस्कन्दस्वामिनो मते **'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत'** इति पादद्वयम् एकं वाक्यम्। अवशिष्टश्च पादः **'स देवाँ एह वक्षति'** इति पृथग्वाक्यम्। अतः द्वितीयवाक्ये स्थितेन इह इति अव्ययेन न पूर्ववाक्यप्रसक्तस्य यज्ञस्य निर्देशः अपि तु कृत्स्नस्य जगतो निर्देशः। अतः 'स देवाँ एह वक्षति' इति वाक्यस्य स एव देवान् इह जगति आवहति इति शाब्दिकोऽर्थः। अर्थतश्च स देवान् यज्ञेषु आवहति नान्यः कश्चिदिति अर्थः फलति। श्रीसायणाचार्येण इह इति अव्ययस्य स्वीकृतो यज्ञरूपोऽर्थोऽपि श्रीस्कन्दस्वामिना वैकल्पिकतया अभ्युपगतः।

एवमेव **'अग्निना रयिमश्नवत्'** इत्यस्य तृतीयमन्त्रस्य व्याख्याप्रसङ्गे अग्निना इति हेतुतृतीया श्रीसायणाचार्येण अभ्युपगता। श्रीस्कन्दस्वामिना तु कर्त्तरि पञ्चम्यर्थे वा तृतीया अभ्युपगता। कर्त्तरि तृतीयास्वीकारप्रसङ्गे दत्तमिति पदमध्याहार्यमिति श्रीस्कन्दस्वामिनोऽभिप्रायः अर्थात् अग्निना रयिम् इत्यर्थः लभ्यते। अथवा अग्नेः सकाशात् रयिं प्राप्नोति इत्यपि अर्थः श्रीस्कन्दस्वामिना अभ्युपगतः।

मन्त्रस्थस्य पोषशब्दस्य व्याख्याप्रसङ्गे श्रीसायणाचार्येण प्रतिदिनं पुष्यमाणमेव धनम् इति अवधारणार्थकेन एव शब्देन सह पोषशब्दस्यार्थः कृतः। श्रीस्कन्दस्वामी तु पोषशब्दस्य एवशब्दस्य च श्रीसायणाभिप्रेतादर्थात् भिन्नतया अर्थः कृतः। तथा हि एवशब्दस्य समुच्चयः पोषशब्दस्य च पुष्टिरूपोऽर्थः कृतः। तथा चोक्तं तेन - "पोषमेव एवशब्दोऽवधारणासम्भवाच्चार्थे, पुष्टिं च।"

एवमेव यशश्शब्दस्यापि श्रीस्कन्दस्वामिना स्वातन्त्र्येण यशरूपोऽर्थः स्वीकृतः। यस्य विशेषणतया वीरवत्तमम् इति पदम् अन्वेति इति श्रीस्कन्दस्वामिनोऽभिप्रायः। श्रीसायणाचार्यस्तु रयेः एव विशेषणत्वेन यशसम् वीरवत्तमम् इति च पदद्वयं प्रयुक्तमिति स्वीकृतम्। तथा चोक्तं श्रीसायणाचार्येण -

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"यशसम् दानादिना यशोयुक्तम् । वीरवत्तमम् अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीर-पुरुषोपेतम्। सति हि धने पुरुषाः सम्पद्यन्ते।"

अपि च चतुर्थमन्त्रस्यस्य अध्वरशब्दस्य श्रीसायणाचार्येण प्रकाशितमर्थं स्वीकृत्यापि श्रीस्कन्दस्वामी स्वानुरोधेन अर्थान्तरं प्रकाशयामास। उभाभ्यामपि भाष्यकाराभ्याम् अध्वरशब्दस्य राक्षसाधिकृतहिंसायाः अभावयुक्तो यज्ञः इत्यर्थः सामान्यतः कृतः। श्रीस्कन्दस्वामी तु यस्मिन् यज्ञकर्मणि हिंसायाः आचरणं नास्ति अपि तु सर्वेषामपि प्राणिनामनुग्रहः एव क्रियते स एव अध्वरो यज्ञः इति श्रीस्कन्दस्वामिनोऽभिप्रायः। पशुहिंसायुक्तो यज्ञोऽपि हिंसारहित एव अध्वरशब्दव्य-पदेश्य इति मतं स्थापयितुं श्रीस्कन्दस्वामिना स्वभाष्ये मनुवचनमपि प्रमाणत्वेन उपन्यस्तम्। तथा हि -

"अध्वरं अध्वरशब्दोऽयं यज्ञमित्यनेन पौनरुक्तत्वान्न यज्ञनाम। किं तर्हि ? तद्विशेषणम् । हिंसावचनो ध्वरतिः हिंसाकर्मा, ध्वरणं ध्वरो हिंसा यस्मिन् नास्ति सोऽध्वरः। यज्ञे हि सर्वस्यानुग्रहः, न हिंसा, येऽपि तत्र पश्वादयो हिंस्यन्ते तेषामप्यनुग्रहमेव शिष्टाः स्मरन्ति - ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितीः पुनः।"

अस्मिन्नेव मन्त्रे स्थितस्य परिभुशब्दस्य व्याख्या श्रीस्कन्दस्वामिना सामान्यतः पृथग्रूपेण कृता अस्ति। श्रीसायणाचार्येण परिभुशब्दस्य प्राप्त्यर्थकत्वं स्वीकृत्य परितः प्राप्तवान् अग्निः इत्यर्थः कृतः। श्रीस्कन्दस्वामी तु परिपूर्वकस्य भूधातोः स्वीकाररूपं परिग्रहात्मकमर्थं स्वीकृत्य व्याख्यानं कृतवान् अर्थात् अग्निः यं यज्ञं सर्वतोभावेन स्वीकरोति तमेव यज्ञं देवाः अपि स्वीकुर्वन्तीति तस्याभिप्रायः। तथा चोक्तं तेन -

"परिपूर्वो भवतिः सर्वत्र परिग्रहे। परिग्रही भवसि। स इदिति। इच्छब्द एवार्थे। स एव देवेषु गच्छति। देवास्तमेव परिगृह्णन्ति, नान्यमित्यर्थः।"

अग्निर्होता कविक्रतुः' इत्यत्र पञ्चमे मन्त्रे विद्यमानस्य चित्रश्रवस्तमः इति शब्दान्तर्गतस्य श्रवश्शब्दस्य कीर्त्तिरूपोऽर्थः श्रीसायणाचार्येण स्वीकृतः। श्रीस्कन्दस्वामी तु श्रवश्शब्दस्य कीर्त्या सह अन्नं धनञ्चेति अर्थद्वयमाधिक्येन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वीकृतवान्। किञ्च चित्रशब्दस्यापि शब्दशास्त्रीया व्युत्पत्तिः श्रीस्कन्दस्वामिना प्रदर्शिता। तथा चोक्तं तेन -

"चायृ पूजानिशमनयोरित्यस्य चित्रं पूजनीयम्। विचित्रपर्यायो वा चित्रशब्दः। श्रव इत्यन्ननाम वा धननाम वा कीर्त्तिपर्यायो वा। अतिशयेन पूज्यं विचित्रं वा अन्नादीनामन्यतमं यस्य स चित्रश्रवस्तमः।"

'यदङ्गदाशुषे त्वम्' इत्यस्मिन् मन्त्रे स्थितस्य अङ्गशब्दस्य निपातत्वे श्रीसायणस्कन्दस्वामिनोः मतभेदः नास्ति। परन्तु अङ्गशब्दस्यार्थः उभाभ्यामपि एताभ्यां भाष्यकाराभ्यां पृथक्त्या स्वीकृतः।श्रीसायणेन अङ्गशब्दस्य सम्बोधनार्थकत्वं स्वीकृतम् । श्रीस्कन्दस्वामिना तु अङ्गशब्दोऽयं पादपूरणार्थकः क्षिप्रार्थको वा स्वीकृतः।

अत्रैव प्रयुक्तस्य 'करिष्यसि' इति पदस्य व्याख्या उभाभ्यामपि भाष्यकाराभ्यां पृथक्तया कृता। श्रीसायणाचार्येण कृधातुः अत्र क्रियारूपं सामान्यमर्थं प्रकाशयति इत्युक्तम्। श्रीस्कन्दस्वामी तु कृधातोः दानार्थकता प्रतिपादिता। अस्यां व्याख्यायां दाशुषे इति चतुर्थ्यन्तं पदं सहायकमिति तस्याभिप्रायः। तथा चोक्तम् तत्र -

"करिष्यसि दाशुष इति सम्प्रदानचतुर्थीश्रुतेरिह करोतिः क्रियासामान्यवचनो दाने वर्त्तते। दास्यसीत्यर्थः।"

अपि च अस्यैव करिष्यसि इति शब्दस्य अन्तर्भावितसन्नर्थत्वमपि श्रीस्कन्दस्वामिना प्रतिपादितम्। लृट्लकारश्च लडर्थकः इति कारणात् करिष्यसि इति शब्दस्य चिकीर्षसि इत्यर्थः स्वीकृतः। तथा चोक्तं तेन -

"अथवा करिष्यसि इत्ययं करोतिरन्तर्णीतसनर्थो द्रष्टव्यः। लडर्थे लृट्। यद् यजमानाय भद्रं धनमन्नं वा चिकीर्षसि।"

अत्रैव मन्त्रे अङ्गिरश्शब्दस्य व्याख्याप्रसङ्गे श्रीसायणेन अङ्गिरोनामकस्य मुनेः हेतुत्वात् अग्निरपि अङ्गिरश्शब्दस्य गौणोऽर्थः। प्रसङ्गेऽस्मिन् श्रीस्कन्दस्वामिना अङ्गिरश्शब्दस्य साक्षात् अग्निरेवार्थः इति व्याख्यातम्। अङ्गिरश्शब्दस्य व्युत्पन्त्या अग्निमपि प्रतिपादयति। तथा चोक्तं तेन -

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"अथवा गुणतोऽग्नेरिदमभिधानम्। अङ्गानि शरीरावयवा तद्वदङ्गि शरीरं, तस्य स्थितिहेतुः अशितपीतरसोऽङ्गिरसः, तं करोति अङ्गिरसयति। 'तत् करोति तदाचष्टे' (३/१/२६ वा.) इति णिच्। ण्यन्तात् क्विप्। हे अङ्गिरः। शरीरस्थितिहेतोरशित-पीतरसस्य कर्त्तरित्यर्थः। जाठरो ह्यग्निरन्नं रसीकरोति। रसो लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्रभावेन परिणममानः शरीरस्थितिहेतुर्भवति। "

'उपत्वाग्ने दिवेदिवे' इत्यस्मिन् मन्त्रे स्थितस्य दोषावस्तः इति प्रयोगस्य व्याख्याप्रसङ्गे श्रीसायणाचार्येण रात्रौ अहनि च इति अर्थः कृतः। स्वप्रतिपादितस्यार्थस्य उपपादनाय वस्तश्शब्दः अहर्वाची स्वीकृतः। तस्य च रात्रीशब्देन द्वन्द्वसमासः। श्रीस्कन्दस्वामी तु आच्छादनार्थकस्य वसधातोः निष्पन्नोऽयं वस्तश्शब्द इति स्वीकृतवान्। तन्मते दोषावस्तः इत्यस्मिन् शब्दे सप्तमीतत्पुरुषसमासः स्वीकर्त्तुं शक्यते । अतः दोषावस्तः इत्यस्यार्थः भवति रात्रिकालीनस्य तमसः आवरकः। तथा चोक्तं तेन -

"दोषेति रात्रिनाम। वस आच्छादने। रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसामाच्छादयितः।"

एवमेव भरन्तः इत्यस्य पदस्य व्याख्याप्रसङ्गे श्रीसायणाचार्यः कस्यापि धातुविशेषस्योल्लेखम् अकृत्वा तत्र भृञ् धातुं स्वीकृतवान् इति कल्पयितुं शक्यते। स्कन्दस्वामी तु तत्र स्पष्टतया हृञ् धातुं स्वीकृत्य हकारस्य भकारम् उपपादितवान्। तथा चोक्तं तेन -

"भरन्तः हृञ् हरणे इत्येतस्यैवैतत् रूपम्। भत्वं 'हृग्रहोर्भच्छन्दसि' (३/१/८४ वा.) इति हस्य भः। हरन्तः प्रापयन्तः, स्तुतिं कुर्वन्त इत्यर्थः।"

'राजन्तमध्वराणाम्' इत्यस्मिन् मन्त्रे विद्यमानस्य राजन्तम् इति पदस्य व्याख्याप्रसङ्गे दीप्त्यर्थकं राज्-धातुम् आदाय दीप्यमानमित्यर्थः कृतः। श्रीस्कन्दस्वामी तु निघण्टोः आधारेण ऐश्वर्यकर्मार्थकं राजधातुमादाय राजन्तम् इत्यस्य ईशानमिति अर्थं कृतवान्।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एवमेव ऋतस्य इति पदस्य व्याख्याप्रसङ्गे श्रीसायणेन अवश्यम्भाविनः कर्मफलस्येति अर्थः प्रतिपादितः। श्रीस्कन्दस्वामी तु ऋतशब्देन यज्ञरूपोऽर्थः स्वीकृतः। तथा चोक्तं तेन -

"ऋतस्य यज्ञस्यैव। ऋतशब्दो ह्यपठितोऽपि भूयिष्ठं यज्ञनाम दृश्यते।"

अपि च 'दीदिविम्' इति पदस्य श्रीसायणेन प्रकाशकरूपोऽर्थः स्वीकृतः। श्रीस्कन्दस्वामिना तु अतिशयेन दीप्तार्थकता स्वीकृतः।

अन्तिमस्य मन्त्रस्य व्याख्यायां श्रीसायणस्कन्दस्वामिनोः उल्लेखनीयः कोऽपि अर्थभेदो न परिलक्ष्यते।

यथा अन्येषां ग्रन्थानां व्याख्याकारेषूत्तरकालीनाः व्याख्याकाराः पूर्ववर्त्तिनां व्याख्याकाराणां मतानि अनुसरन्ति कदाचित् अन्यथा व्याख्यान्ति, आधिक्येन संयोजयन्ति कारणवशाच्च निरस्यन्ति, तथैव अत्रापि श्रीसायणस्कन्दस्वामिनोः भाष्ययोः तुलनायां वस्तुस्थितिः परिलक्ष्यते। श्रीस्कन्दस्वामी यद्यपि बहुषु स्थलेषु श्रीसायणाचार्यस्य मतात् भिन्नमतं प्रकाशितवान् तथापि क्वापि श्रीसायणाचार्यस्य नामोल्लेखपूर्वकं तन्मतस्य निरसनं न कृतवान्। अतः श्रीस्कन्दस्वामी श्रीसायणे अतीव श्रद्धापरायणः इति मन्यते।

पियोली पालः
जे.आर.एफ. विश्वभारती
शान्तिनिकेतनम्, (पश्चिमबङ्गालम्)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

अथर्ववेदीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि में पाश्चात्यविद्वानों का योगदान

प्रो. रूप किशोर शास्त्री

वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतभाषा ने भारतीय मनीषा, संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान एवम् अध्यात्म की उदात्तता का दर्शन जो विश्व के लिए दिया है, यह अपने में विश्व-पटल पर कौतूहल एवं परम जिज्ञासा का विषय है तथा गत दो-तीन शताब्दियों में अत्यधिक चर्चा, अध्ययन एवम् अनुसन्धान का विषय रहा है। वस्तुतः योरोपीय बुद्धिजीवियों को अत्यन्त आन्दोलित किया है उक्त साहित्य एवं भाषा ने, जिसने विश्व के अनेक देशों को विशेषकर भारतीय तथा योरोपीय देशों को एक भाषापरिवारीय सम्बन्धी बनने का मार्ग प्रशस्त किया, परिणामतः 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का लक्ष्य सच्चे अर्थों में इसीसे प्राप्य हो सकता है।

वैदेशिक विशेषकर योरोपदेशीय लोगों को सर्वप्रथम संस्कृतभाषा से परिचित कराने का श्रेय यद्यपि अट्ठारहवीं शताब्दी के सातवें दशक में फोर्ट विलियम में नियुक्त मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जोन्स को जाता है, जिन्होंने हिन्दुओं के सम्पत्ति एवं परिवार सम्बन्धी वादों एवं विवादों का स्मृतियों व धर्मशास्त्रों के आधार पर न्याय करने की उत्कट अभिलाषा के वशीभूत बड़े ही परिश्रम, श्रद्धा एवं सतत निष्ठा व लगन के साथ संस्कृत पढ़कर अपनी रुचि को संस्कृत-वैदुष्य में परिवर्तित किया। वे यहीं नहीं रुके, बल्कि उन्होंने स्थायी एवं विकसित मूर्त-रूप देने की दृष्टि से १७८३ को भारतीय प्राच्यविद्यानुसन्धान के निमित्त रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना करके भारतीय प्राच्य-विद्याओं के प्रति अपना हार्दिकभाव व आदर प्रस्तुत किया। सोसाइटी की स्थापना के अवसर पर अपने उद्घाटन-भाषण में संस्कृत की महनीय कीर्ति को जोन्स ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया -"संस्कृत की प्राचीनता का निश्चित

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ज्ञान भले ही हमें न हो किन्तु इसकी संरचना आश्चर्यजनक है, जो ग्रीक से पूर्ण, लैटिन से अधिक विशद तथा इन दोनों से परिपूर्ण, परिष्कृत एवं परिमार्जित है।[१]

सर विलियम जोन्स के संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गाथी एवं केल्टिन भाषाओं के तुलनात्मक व विश्लेषणपरक तत्कालीन योरोपीय जर्नल्स में प्रकाशित कतिपय लेखों ने योरोपवासियों का ध्यान क्या आकृष्ट किया, उन्होंने तो संस्कृताध्ययन एवं भाषाविज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। परिणामतः योरोपीय संस्कृतप्रेमियों का संस्कृताध्ययन की प्रस्थापनानन्तर प्राच्य भारतीय शास्त्रों के प्रति आकर्षण अत्यन्त द्रुतगति से व्यापक हुआ। यूरोप के देशों में अपेक्षाकृत जर्मनी में संस्कृत का अनुराग अत्यधिक प्रचलित हुआ एवं भारतीय प्राच्यविद्या सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक उन्नतकोटि का कार्य हुआ। यद्यपि सर विलियम जोन्स से पूर्व हेनरिख रॉथ (१६२०-१६६८), बार्थो लोमियस जीजेंवल्ग (१६८२-१७१९), एन्क्विटल डुपेरों (१७३१-१८०५) एवं कोएर्डू (१७२८-१७९७) इत्यादि संस्कृत-विद्वान् हो चुके थे, जिन्होंने संस्कृताध्ययन, उपनिषदों एवं भाषाविज्ञान को अपना प्रिय विषय बनाया था, इन्होंने यूरोप में संस्कृताध्ययन की स्थापना करके अपने को पूर्णतः समर्पित कर दिया था। वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी से ही संस्कृतभाषा ने अपने वैभव एवं चमत्कार की पताका योरोप के क्षितिज में फहरा दी थी, परन्तु सर विलियम जोन्स द्वारा रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के अनन्तर संस्कृताध्ययन को जो विराट् आयाम मिला उससे यूरोप में संस्कृत एवं वैदिकसाहित्य का तुलनात्मक-अध्ययन, पाण्डुलिपियों तथा दुर्लभ ग्रन्थों का संशोधन व पाठालोचनपूर्वक प्रकाशन, शोध एवम् अनुवादों में प्रगति हुई, फलतः हिन्दू लॉ, स्मृतियों, भारतीय दर्शन, उपनिषद्, धर्म, दर्शन, संस्कृति, ज्योतिष, गणित, व्याकरण व भाषाविज्ञान पर गहनता से

---

१ The sanskrit language whatever its antiquity, is of wonderful structure, more perfect than Greek, more copious than latin and more complitly refined than either.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रस्तुति होने लगी । सर विलियम जोन्स से ही प्रेरणा लेकर हेनरी टॉमस कोलब्रुक ने संस्कृताध्ययन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया था, जिसमें उसके द्वारा यूरोपवासियों को संहिताओं से परिचय कराना विशिष्ट रहा। इसके अतिरिक्त हितोपदेश, किरातार्जुनीयम्, पाणिनिव्याकरण एवम् अमरकोश का सम्पादन प्रमुख था। प्राचीन संस्कृत-पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह, संरक्षण एवम् उनके उपयोग तथा प्रक्रिया की बड़े परिश्रमपूर्वक प्रस्तुति कर इन्होंने मार्गप्रशस्त किया था। हेनरी द्वारा कृत हजारों पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आज भी इंग्लैण्ड की इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी की प्रतिष्ठा को बढ़ा रहा है।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में यूरोप के इंग्लैण्ड एवं पुर्तगाल देश से बड़ी सङ्ख्या में गोरे लोग व्यापार की दृष्टि से भारत में आये और यहाँ की भाषा, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, धर्म, दर्शन से भी परिचित हुए। लेकिन उस समय स्विटजरलैण्ड, आस्ट्रिया और जर्मनी कभी भी भारत में उपनिवेश बनाने के इच्छुक नहीं रहे, जबकि इन देशों के कतिपय मनीषी विद्वानों ने प्राच्यविद्यागत एक बड़ा योगदान दिया है। यह सत्य है कि यूरोपीय देशों के विद्वान् अधिकांशतः ईसाई मिशनरी भावना से परिपूरित थे, परन्तु अधिकतर विद्वानों के विद्वान् के हृदय एवं चिन्तन में निस्सन्देह वैदिक एवं लौकिक-साहित्य के उदात्त ज्ञान, भाषावैज्ञानिक सटीकता, शाश्वतसिद्धान्तता एवं समस्त काव्यगत विधाओं के सौन्दर्य ने परिवर्तन करने के लिए बाध्य कर दिया। समस्त भारतीयों को गर्व करना चाहिये कि हमारे वेदों तथा पूर्वजों, ऋषियों, मुनियों एवम् आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के प्रति योरोपवासियों का इतना अनुराग बढ़ा, जिसके कारण आज विश्व में भारतवर्ष, भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति व सभ्यता एवं ज्ञान का विशिष्ट सम्मान है। इन विद्वानों ने वैदिक एवं लौकिक वाङ्मय की समस्त विधाओं पर शोधपरक एवम् उच्चस्तरीय कार्य किया है, जिसमें उन्होंने दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन, वेदों का भाष्य, सम्पादन, कोष-निर्माण, समस्त वैदिकवाङ्मय, पुराणों, महाकाव्यों, बौद्ध-जैन ग्रन्थों, भाषाविज्ञान, धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्र, शिल्पविद्या, विधि, इतिहास, कला, सङ्गीत, साहित्य इत्यादि पर अद्भुत कार्य किया है, निश्चय ही इन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विद्वानों ने वैदिक ग्रन्थों के विशुद्ध-रूप से प्रकाशन एवं संरक्षण में जिस भूमिका का निर्वहण किया है उससे वे सदा श्रद्धेय एवं हम लोग उनके आभारी रहेंगे। वस्तुतः उनके कृत कार्यों का विवरण एवं लेखा-जोखा अत्यन्त विस्तृत एवं समृद्ध है।

समस्त वैदिक एवं लौकिक-साहित्य के अन्तर्गत उक्त यूरोपीय एवम् अन्य वैदेशिक विद्वानों ने अथर्ववेदीय वाङ्मय पर भी अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है, जिसका उल्लेख करना सुतराम् अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कार्य है **आटो वॉन बोथालिंक** (१८१५-१९०४) का। इस दीर्घजीवी व्याकरण एवं वैदिक विद्वान् ने अथर्ववेदसंहिता पर कार्य किया, जिसका ९० प्रतिशत भाग स्वयं बॉथलिङ्क ने तैयार किया तथा १० प्रतिशत कार्य के रूप में योगदान है **डब्ल्यू. डी. ह्विटनी** का, जो स्वयं वैदिकवाङ्मय का प्रसिद्ध विद्वान् रहा है। ह्विटनी ने इसकी शब्दसूची तैयार करने में श्रमसाध्य योगदान दिया है। वैसे इस जर्मनदेशीय विद्वान् बॉथलिङ्क ने पाणिनीयव्याकरण, उपनिषद् एवं संस्कृतनाटकों पर उच्चस्तरीय कार्य किया है, जो प्रायः जर्मनभाषा में प्रकाशित है। इसके द्वारा कृत कार्यों में **पाणिनिज अख्त ब्यूशेर ग्रामाटिशेर रिगेन** (Panini's acht Buecher Grammatischer Regeln); (Panini's eight looks of Grammitical rules) प्रमुख हैं। वहीं इसने धातुपाठ एवं पाणिनि की शब्दसूची भी तैयार की। बॉथलिङ्क का मत था कि पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि का समय क्रमशः ३५०, २५० और १५० ईसापूर्व है; भले ही हम लोगों अथवा अन्य विद्वानों की सहमति ना हो। इसका एक और प्रशंसनीय कार्य था उणादिसूत्रों पर इन्हीं उणादिसूत्रों पर उपलब्ध समस्त वृत्तिकारों द्वारा कृत कार्य सम्बन्धी अत्यन्त उपयोगी एक ग्रन्थ इसी लेख के लेखक तथा महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेदविद्या के सचिव प्रो. रूप किशोर शास्त्री का प्रतिष्ठान द्वारा २०१४ में प्रकाशित किया है पर, जिस पर उणादिसूत्रों में आगमों विषयक जर्मन भाषा में Die Unadi Affixe (The unadi affixes) के नाम से प्रसिद्ध है। इसने शाकुन्तलम् १८४२, मृच्छकटिकम् १८७७, छान्दोग्योपनिषद् १८८९ और दण्डी का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

काव्यादर्श १८९० में जर्मन अनुवादसहित प्रकाशित किया जो अपने में एक विशिष्ट कार्य था।

जर्मन के ही दो विद्वान् डब्ल्यू. डी. ह्विटनी और रुडोल्फ वॉन रॉथ ने सम्मिलित रूप से बर्लिन में १८५६ में अथर्ववेदसंहिता को दो भागों में प्रकाशित किया। रॉथ के पास अथर्ववेदसंहिता की जो पाण्डुलिपि थी, वह जीर्ण-शीर्ण एवम् अस्तव्यस्तावस्था में थी, उसने बड़े ही परिश्रम के साथ पूर्णतः व्यवस्थित की। रॉथ ने सुना था कि कश्मीरीब्राह्मण किसी अथर्ववेदीय-शाखा से अपने को सम्बद्ध मानते हैं, वह कश्मीरीब्राह्मणों की प्रकृति से आशान्वित था कि उसे संहिता की पाण्डुलिपि उनसे अवश्य मिल जायेगी। महाराजा कश्मीर ने रॉथ की उत्कट अभिलाषा को पूरा करने के उद्देश्य से उसे भोजपत्रों पर लिखित अथर्ववेद की पाण्डुलिपि भेंट की जो आज भी जर्मनी के ट्यूविंगन पुस्तकालय में सुरक्षित रखी है। रॉथ की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं था, फलतः उसने अपने दो प्रतिभाशाली विद्वान् शिष्यों एम. ब्लूमफील्ड और आर. गर्बे के साथ मिलकर पैप्पलादशाखा की अथर्वसंहिता की पाण्डुलिपि की ५४४ रङ्गीन प्लेटें ट्यूबिंगन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से तैयार करके १९०१ में स्टुटगार्ड में प्रकाशित की। प्रो. ब्लूमफील्ड ने भी काश्मीर की शारदालिपि में प्राप्त एक पाण्डुलिपि के आधार पर १९०१ में अँग्रेजी अनुवाद के साथ अथर्ववेदसंहिता को प्रकाशित किया था।

जुलियस जौली (१८४९-१९३२) नामक विद्वान् ने भारतीयचिकित्सा के क्षेत्र में उच्चस्तरीय कार्य किया है उसने **एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डो-आर्यन् रिसर्च** नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में चिकित्सा सम्बन्धी प्रस्तुति अथर्ववेद की अनेक ऋचाओं एवम् अथर्ववेद के सूत्रग्रन्थ कौशिकसूत्र के आधार पर उदात्त चिन्तन के साथ की है। मर्बर्ग और म्यूंखेन विश्वविद्यालय में रहे संस्कृत के प्रो. हेन्स ऑर्टेल ने जहाँ यास्क के निरुक्त, जैमिनीयपूर्वमीमांसा, शङ्कराचार्य द्वारा कृत वेदान्तसूत्र के भाष्य और कपिष्ठलसंहिता पर शोधपरक कार्य किया, वहीं उन्होंने जर्मनभाषा में जु देन वर्ङ्गटेलुंगस्वेरियन्टेन देर मन्त्रास देर्स अथर्ववेद इन देर शौनक उण्ड पैप्पलाद

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रिजेन्शान उण्ड देस सामवेद इन देर कौथुम उण्ड जैमिनीय रिलेन्शान (Zu den wortstellungsrianten der Mantras des Atharvaveda in der Shaunaka und Paippalada rezension und des Samveda in der Kauthuma und Jaiminiya rezension) (On the variation in order of words in the mantras of the Atharvaveda in the Shaunak and Pappalad recension and the Samveda in the Samveda in the Kauthuma and Jaiminiya recension) नामक शोधकार्य १९३८ में प्रकाशित किया, जिसमें उसने अथर्ववेद की शौनक एवं पैप्पलाद-शाखा तथा सामवेद की कौथुम तथा जैमिनीय-शाखा के क्रम-वैभिन्य पर विशद विश्लेषण किया है।

जर्मनी देश के छोटे से शहर में जन्मे एक मेधावी विद्वान् प्रो. जुलियस वॉन निगेलियन (१८७२-१९३२) की अथर्ववेद एवं भारत के सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र में विशेषज्ञ के रूप में प्रसिद्धि रही है। उसने भारतीय आस्थाओं एवम् अन्धविश्वासों पर बहुत कार्य किया है। वैसे प्रो. निगेलियन का प्रारम्भिक प्रकाशन कार्य भाषाविज्ञान के क्षेत्र में रहा है, परन्तु निगेलियन के अध्यापक रहे प्रो. अल्ब्रेख्त वेबर की प्रेरणा से निगेलियन ने अथर्ववेद के परिशिष्ट को बड़े ही परिश्रमपूर्वक शोधकार्य करके १८९८ में प्रकाशित किया है। वह इतने से सन्तुष्ट नहीं था क्योंकि उसका विचार था कि इस दुरूह कार्य करने से पूर्व भारत की सांस्कृतिक-सम्पदा के इतिहास को गहराई से जानने की थी। अतः उसने दोनों बातों को लक्ष्यीकृत करते हुए जर्मनभाषा में **जुर् रिलीजन्सगेसिस्टे इण्डियन्स : डी अथर्वपरिशिष्ट** (Zur Religiongeschichte Indiens: Die Atharvaparishist) (On the history of religion in India: The Atharvaparishist) नामक शोधकार्य १९०८ में प्रकाशित किया। उसका शोधकार्य और आयाम लेता गया, फलतः उसने १९०९-१० में एक अमेरिकन विद्वान् जी.एम. बोलिंग के साथ मिलकर अँग्रेजी में The Parishistas of the Atharvaveda नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। निगेलियन ने अन्य विषयों

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पर भी अपनी लेखनी से भारतीय प्राच्यविद्याओं पर लिखा है परन्तु उसने अथर्ववेद पर लिखना नहीं छोडा, उसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य **जर्नल्स ऑफ द अमेरिकन ऑरियन्टल सोसाइटी** में १९१३ और १९१५ में प्रकाशित हुआ, जिसकी विषयवस्तु थी Indian Expiatory Ceremonies. वस्तुतः यह कार्य था प्रायश्चित्त सम्बन्धी प्रक्रियाओं पर। वहुआयामी व्यक्तित्त्व के धनी निगेलियन का मानना था कि प्रायश्चित्तविधान मूलतः अथर्ववेदीय अवधारणा है, जिसका विस्तार वाद में गृह्यसूत्रों, स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों में हुआ है। उसकी दृष्टि में प्रायश्चित्त-अवधारणा भारतीयों की अद्भुत सामाजिक एवम् आत्मिक सुधारात्मक प्रक्रिया एवं संस्कार था, जिससे पुनः सामाजिक प्रतिष्ठा-प्राप्ति के साथ-साथ आत्मिक उत्थान एवं सुधार होता था और सभी दोषों, अपराधों एवं त्रुटियों से भविष्य में बचा जा सकता था।

ज्यूरिख विश्वविद्यालय में रहे प्रोफेसर पॉल होर्स्वे (१९१५-१९७१) जर्मनी के ऐसे विद्वान् हुए हैं जिन्होंने दर्शन, वौद्ध-अध्ययन एवं वैदिकसाहित्य के विषयों पर वडी गम्भीरता से शोधपरक कार्य एवं प्रकाशन किया है। इन्होंने जर्मनभाषा में वोम सोफंगस्मिथोस जुम वेल्टगेसेट्ज़ Vom schaepfungemgthas zum veltgesty (Vom the myth of Geation to cosmic order) नामक प्रकाशन में अथर्ववेदविषयक लेख लिखे हैं। २१ खण्डों में जर्मन भाषा में Asiatische studiean ऐशियाटिक स्टडीयन नामक प्रकाशन में उन्हें बहुत ख्याति मिली, जिसमें ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों एवं वौद्ध-अध्ययन पर १९५५, ५६, ५८ में शोधलेख प्रस्तुत किये हैं।

पोलैण्ड में यद्यपि संस्कृताध्ययन को जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, इटली इत्यादि देशों की तुलना में उतना आयाम न मिला हो, परन्तु गत अनेक दशकों में प्राच्यं भारतीय वाङ्मय पर अध्ययन एवं शोधकार्य में वृद्धि हुई है। वर्तमान में अन्ताराष्ट्रिय ख्याति के संस्कृतविद्वान् हैं प्रो. एम. क्रेजिस्टोफ ब्रिस्की प्रो. ब्रिस्की, इस लेख के लेखक प्रो. रूप किशोर शास्त्री के अच्छे मित्र हैं, स्वयं प्रो. शास्त्री ने इनके अनेक व्याख्यान वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार (उत्तराखण्ड) में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कराये हैं । जो भारत में पोलैण्ड के राजदूत भी रह चुके हैं, ने उल्लेख किया है कि क्रेकोवा (पोलैण्ड) की एक विदुषी ने पोलिस भाषा में Athravaveda-Wybrane hymny (Atharvaveda-Selected hymns) पर एक शोधपरक कार्य ऑफिसियाना लिटरेका क्रेकोवा से १९९९ में प्रकाशित हुआ है, इटली में वैदिक एवं संस्कृतसाहित्य सम्बन्धी अध्ययन-अध्यापन एवं शोधकार्य उन्नीसवीं शताब्दी से ही आज तक वहाँ के विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में निरन्तर चला आ रहा है। यद्यपि अथर्ववेद पर उतना कार्य वहाँ नहीं हुआ है जितना ऋग्वेद, स्मृतियों, अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों पर.....। लेकिन संस्कृतग्रन्थों एवं रामायण इत्यादि पर हुआ है। इटली के विद्वानों में डॉ. डेनियल मागी ने Antico-Indiano Ksetra-nel Rigveda e nel Atharvaveda (एण्टीको-इण्डियन क्षेत्र-नेल ऋग्वेद इ.नेल अथर्ववेद) नामक विश्लेषणात्मक शोधकार्य इन्स्टीटूटि एडिटोरिबलि इ पोलिग्राफिसी इन्टरनेजनली १९९८ में प्रकाशित हुआ है। इधर एशियाई देश थाईलैण्ड के दो विद्वानों के शोधग्रन्थों ने अथर्ववेदीय वाङ्मय प्रकाशन में श्रीवृद्धि की है। डॉ. पी. वान्चाई किंग्केव का ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द अथर्ववेद (XI-XV काण्ड) और डॉ. पी. देवन दुसाडी-अरक का ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द अथर्ववेद (XVI-XX काण्ड) १९९२ में प्रकाशित हुए हैं।

यद्यपि भारत की दृष्टि सें विदेशों में अथर्ववेद सम्बन्धी वाङ्मय पर कृत अध्ययन, शोध एवं प्रकाशनकार्य में न्यूनता प्रतीत होती हो, परन्तु वैदिशिक धरा पर उक्त कृत-कार्य स्वयं में एक मील का पत्थर है जो देश-विदेश के विद्वानों के लिए सतत प्रेरणास्पद बना रहेगा।

प्रो. रूप किशोर शास्त्री
सचिव
महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान
वेदविद्या मार्ग, चिन्तामण गणेश, उज्जैन-४५६००६ (म.प्र.)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

अथर्ववेदोक्त इष्टापूर्त्तकर्मफल

डॉ. सदानन्द त्रिपाठी

अथर्ववेदनिर्दिष्टमिष्टापूर्त्तं तु कर्म्म यत्।
तत्फलञ्च समासेन शोधपत्रेऽत्र वर्ण्यते॥

परमपिता परमेश्वर के श्वासोच्छ्वासनिःश्वसित, सनातन, अपौरुषेय, वेदचतुष्टयी के चतुर्थक्रम में परिगणित अथर्ववेद के मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि, अङ्गिरावंशावतंस 'अथर्वा' महाभाग हैं जिनके नाम से ही इस वेद का नाम 'अथर्ववेद' है। पाणिनीयधातुपाठ में प्रोक्त 'थुर्वीदुर्वी० ' सूत्र में पठित थुर्वीधातु हिंसार्थक है, अतः 'थर्व' शब्द हिंसा का बोधक है। इसमें नञ् समास होने से 'न थर्वः अथर्वः' अर्थात् जिसमें हिंसा का स्थान न हो, वह 'अथर्ववेद' है। इस वेद के अथर्वाङ्गिरस्वेद, अङ्गिरोवेद, क्षत्रवेद, भृग्वङ्गिरस्वेद, भिषग्वेद तथा ब्रह्मवेद आदि अभिधान प्रचलित हैं। सर्वप्रथम प्रवर्त्तमान चतुर्युगी में मन्त्रसंहिताकाल में कृष्णद्वैपायन महर्षिवेदव्यास ने इस अथर्वसंहिता का सङ्कलन करके अपने शिष्य सुमन्तु को अध्यापन कराया। यथा - "अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे॥

जैमिनेः सामगस्यासीत् सुमन्तुस्तनयो मुनिः।
सुन्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम्॥"[१]

उपर्युक्त का समर्थन श्रीविष्णुपुराण भी अधोलिखितानुसार करता है; -

अथर्ववेदं स मुनिस्सुमन्तुरमितद्युतिः।
शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोऽपि तं द्विधा॥
कृत्वा तु देवदर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान्॥[२]

---

[१] श्रीमद्भागवतमहापुराणम् १२/६/५३; १२/६/७५
[२] श्रीविष्णुपुराणम् ३/६/९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अथर्वसंहिता में ऋग्वेदादि के समान आमुष्मिकफल प्रदान करने वाले करणीय कर्मों का विशद वर्णन प्राप्त होता है; तथापि 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार देवदुर्लभ मानवजीवन को सुखमय तथा सर्वथा दुःखरहित बनाने के लिये ऐहिकफलदायक, इहलोकोपकारक विविध कर्त्तव्य-अनुष्ठानों का विवेचन भी उपस्थापित किया गया है। अत्यन्त खेदपूर्वक कहना पड रहा है कि कतिपय पाश्चात्यविद्वानों तथा उनके उच्छिष्टभोजी अनुयायी विद्वानों ने अथर्ववेद को केवल मारण-मोहन-उच्चाटन-विद्वेषण-वशीकरणादि सदृश वाममार्गी क्रूरतान्त्रिक कर्म तथा यातुविद्या (जादू = टोना, टोटका) का ही ग्रन्थ कहा है। हम समग्र भारतवासी सादर प्रणाम करते हैं उन वेदार्थरसरहस्यमेधासम्पन्न देशी-विदेशी सुधी वैदिक अनुसन्धाताओं-कृतभूरिपरिश्रमा वैदिकजनों को, जिन्होंने अथर्ववेद के नितान्त गम्भीरतापूर्ण, तात्त्विक, आर्ष वैज्ञानिक दिव्यातिदिव्य तथ्यात्मक सन्निहित रहस्यों का सर्वविध हृदयङ्गम करके सारभूत नवनीतस्वरूप प्रामाणिक स्वस्थ एवं परम उपादेय चिन्तन प्रदान करके निखिल वैश्विक समाज को निःस्पृहभाव से उपकृत किया है।

अथर्ववेदसंहिता में वर्णित विषयों को विवेचन की दृष्टि से १३ तेरह वर्गों में पृथक्-पृथग् विभाजित किया जा सकता है - (१) भैषज्य (२) आयुष्य (३) अभिचारकर्म (४) स्त्रीकर्म (५) राजकर्म (६) सांमनस्य (७) पौष्टिक (८) प्रायश्चित्त (९) ब्रह्मकर्म (१०) सृष्टिविद्याविषयक विविध आध्यात्मिक सूक्त (११) कर्मकाण्डविषयक सूक्त (१२) एकविषयक काण्डों में वर्णित विषय तथा (१३) कुन्तापसूक्त। अथर्ववेद में ऐसे सूक्तों की सङ्ख्या पर्याप्त है जिनमें गृह, क्षेत्र, नदी, अन्न, वर्षा, पशु, अश्व, व्यापार आदि के साथ ही प्रवास की सुरक्षा, वृद्धि एवं पुष्टि की मङ्गलकामना की गयी है। अतएव, ऐसे सूक्तों का पारिभाषिक नामकरण 'पौष्टिक' सञ्ज्ञक किया गया है। पुष्टि ही चराचर जीव-जगत् के सम्पूर्ण सुखों का मूल कारण है। इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट का परिहार यथार्थतः पुष्टिसूक्तों का प्रमुख प्रतिपाद्य है और इसीसे वेदों का वेदत्व सिद्ध है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।'[१]

पूर्वोक्त पौष्टिककर्म का ही एक प्रमुख अङ्गीभूत कर्म है इष्टापूर्त्तकर्म। इष्टापूर्त्त पद में इष्ट तथा आपूर्त्त अथवा इष्टा एवं पूर्त्त शब्दद्वय का सम्मिश्रण है। प्रथम इष्ट शब्द का अभिप्राय यज्ञयागादि-सन्ध्या-अग्निहोत्र, तप, सत्यपालन, वेदस्वाध्याय, आतिथ्य (अतिथिसेवा), बलिवैश्वदेव आदि से है तो पूर्त्त शब्द कूप (कुआँ), वापी (बावड़ी), तड़ाग (तालाब) खुदवाना, देवमन्दिरों का निर्माण तथा दीन-दुःखी अभ्यर्थियों को भोजन कराना इत्यादि का वाचक है।

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव साधनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमर्थिभ्यः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥[२]

इनके अतिरिक्त गमनशील पथिक को थोड़ी-थोड़ी दूर पर आवश्यकता के अनुरूप सुस्वादु पेयजल सुलभ हो, एतदर्थ पुष्करिणियों (कमलपुष्पयुक्त छोटे-छोटे तालाबों) का निर्माण, मार्ग में श्रमापनोदनार्थ विश्राम हेतु आराम अर्थात् सुमधुर फल वाले सघन वृक्षों का उपवन, वाटिका-निर्माण के साथ ही साथ शिक्षा-केन्द्र के रूप में वैदिक स्वाध्याय तथा प्रवचनादि की सुचारु व्यवस्था हेतु सभा-भवनों की संरचना भी पूर्त्तकर्म के रूप में निर्दिष्ट है ;-

पुष्करिण्यः सभा वापी देवतायतनानि च।
आरामाश्च विशेषेण पूर्त्तं कर्म विनिर्दिशेत्॥[३]

---

[१] तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकायाम्-सायणाचार्यः, पृ.२, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९३४ ई.
[२] अत्रिस्मृतिः ४४-४५ श्लोकौ, धर्मशास्त्रसङ्ग्रहपरिशिष्ट पृ. ४६३, श्रीक्षेमराज प्रेस, मुम्बई संस्करण
[३] भरतर्षिवचनम्, शब्दकल्पद्रुमः, तृतीयः काण्डः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

समाज तथा राष्ट्र में जो ज्ञानयुक्त, बलशाली तथा धन-सम्पदासम्पन्न लोग हैं, उनके लिये ये इष्ट एवं पूर्त्तकर्म धर्मलाभ के साक्षात् साधन हैं। इष्टकर्मसम्पादन से स्वर्ग-प्राप्ति तथा सर्वजन-सुखोपयोगी पूर्त्तकर्म करने से मोक्षपद की प्राप्ति होती है ;-

इष्टापूर्त्तं द्विजातीनां प्रथमं धर्मसाधनम्।
इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्त्तेन मोक्षञ्च विन्दति॥[१]

लोककल्याण की दृष्टि से परम उपयोगी इन इष्टापूर्त्त-संरचनाओं में जो लोग विनाशक या बाधक बनते हैं, वे चोर के समान राजदण्ड के अधिकारी होते हैं ;-

इष्टापूर्त्तविनाशाय तद्राज्ञश्चौरधर्मिणः॥[२]

मानुषी-सृष्टि के आदिपुरुष भगवान् मनु की मानव-समाज के लिये अनिवार्य आज्ञा है कि इष्ट और पूर्त्त कर्मों को सदा आलस्यरहित होकर श्रद्धापूर्वक करना चाहिये। न्यायोपार्जित धन से लोकोपकारार्थ श्रद्धापूर्वक किये गये ये दोनों कर्म मोक्ष के कारण होते हैं। अतएव इष्ट (यज्ञादि) तथा पूर्त्त-सम्बन्धी दान-धर्म सुपात्र व्यक्ति को पाकर सदा प्रसन्न मन से यथाशक्ति करना चाहिये ;-

श्रद्धयेष्टं च पूर्त्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः॥
दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्त्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः॥[३]

इष्टापूर्त्त-कर्म एवम् उसके फल की महिमा अनन्त है। यह प्राणपण से आचरण का विषय है। वैदिकवाङ्मय हमें इस सम्बन्ध में पदे-पदे दिशा-निर्देश प्रदान करता है। सम्प्रति हम प्रकृत शोध-निबन्ध के सन्दर्भ में इष्ट तथा पूर्त्त शब्द की पृथक्-पृथग् व्युत्पत्ति-परिभाषा आदि के साथ अथर्ववेद में प्रतिपादित सम्पृक्त इष्टापूर्त्तकर्म-फल का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

---

[१] वराहपुराणम् ....., अत्रिस्मृतिः श्लोकः ४३
[२] मार्कण्डेयपुराणम् अध्यायः १८/६
[३] मनुस्मृतिः ४/२२६-२२७ रणवीरप्रकाशन, हरिद्वार संस्करण सन् १९८७ ई., पृ. १४६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'इष्टं' शब्द की व्युत्पत्ति इष अथवा यज धातु में भाव तथा कर्म अर्थ में क्त प्रत्यय लगाने पर नपुंसकलिङ्ग में होती है जिसका निर्वचन होता है - **'इष्यते इज्यते वा यत् तत् इष्टम्; इष यज वा भावे कर्मणि क्तः।** अर्थात् जिस (कर्म) की ईप्सा, आशंसा, वाञ्छा या प्रियता के कारण साधना-उपासना-पूजा की जाती है, वह इष्ट (कर्म) नाम से अभिहित होता है। अमरकोशकार (ईसापूर्व प्रथमशती) ने इष्ट पद को परिभाषित करते हुये कहा है - **'अथ क्रतुकर्मेष्टम्'** अर्थात् क्रतु-यागादि कर्म इष्ट पदवाच्य हैं। **क्रतुश्च यज्ञः कर्म च दानादि तदिष्टशब्दवाच्यम्।** अन्य कोशकार अजय ने भी इसीका समर्थन करते हुये कहा है - **'इष्टं यागे च दाने च वाञ्छितेऽपि प्रयुज्यते।'** प्रख्यात कोशकार मेदिनीकर का कथन है - **'इष्टमाशंसितेऽपि स्यात्पूजिते प्रेयसि त्रिषु। सप्ततन्तौ पुमान् क्लीबे संस्कारे क्रतुकर्मणि॥'**[१] इसी प्रकार 'पूर्त्तम्' शब्द की निष्पत्ति जुहोत्यादिगणपठित **'पॄ पालनपूरणयोः'** सकर्मक, परस्मैपदी सेट् धातु में भाव अर्थ में पाणिनिकृत अष्टाध्यायीसूत्र भावे ३/३/११४ द्वारा तथा कर्म अर्थ में पा. सूत्र कर्मणि ३/२/१०२ द्वारा क्त प्रत्यय लगाने पर **'न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्'** इस पाणिनीयसूत्र से निष्ठात्वाद् नत्व न होने से 'पूर्त्तम्' शब्द की सिद्धि होती है। श्रीमदमरसिंह ने पूर्त्त का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करते हुये कहा है - **'पूर्त्तं खातादिकर्मणि'** अर्थात् जिस कर्म में खात (गर्त्त-गड्ढा) आदि का खनन करके निर्माण सम्पन्न किया जाये, वह कर्म 'पूर्त्त' सञ्ज्ञक है । सुधा-रामाश्रमीटीकाकार श्रीभानुजीदीक्षितमहाभाग ने इसकी व्याख्या करते हुये सुस्पष्ट किया है - **'खातं पुष्करिणीखननमादिर्यस्य देवालयारामादिनिर्माणस्य। खातादि च तत्कर्म च क्रिया तस्मिन्। पूरणम्। पूर्यन्ते स्म वा।'** लिङ्गविमर्श की दृष्टि से मेदिनीकोशकार का कथन है - **'पूर्त्तं त्रिषु पूरिते स्यात्क्लीबं खातादिकर्म्मणि।'** पूर्त्त शब्द की व्युत्पत्ति होती है - **'पिपर्त्ति पालयत्यनेन जीवानिति'**

---

[१] अमरकोशः २/७ ब्रह्मवर्गः / २८, सुधा-रामाश्रमीटीकायाम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् जो कर्म असङ्ख्य जीवों के पालन-पोषण में परम सहायक है, वह 'पूर्त्त' नाम से अभिधेय है।[१]

'इष्ट' और 'पूर्त्त' शब्दद्वय का सम्मिलित-सम्पृक्तस्वरूप है **इष्टापूर्त्त**। इष्टापूर्त्त की निष्पत्ति - **'इष्टञ्च पूर्त्तञ्च द्वयोः समाहारः'** के रूप में होती है। समाहार द्वन्द्वसमास होने से पूर्वपद 'इष्टम्' का दीर्घ हो जाता है।[२] शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहिता अध्याय १८ मन्त्र ६० का भाष्य करते हुये आचार्यमहीधर ने इस इष्टापूर्त्त शब्द की व्युत्पत्ति में लिखा है- **'इष्टं च पूर्त्तं च इष्टापूर्त्ते देवसम्बन्धिकर्मत्वात्।' 'देवताद्वन्द्वे च' (पाणिनीयसूत्रम् ६/३/२६) इति पूर्वपदस्यानङ्॥ आपूर्त्तं चेति वा। कृणवाथ 'कृञ् कृतौ' स्वादिः आडागमश्च।**[३] ईसापूर्व ५०९ वर्ष अर्थात् वर्तमान से अनुशीलित २५२२ वर्ष पूर्व भारतवर्ष के केरल प्रान्त के कालटी अथवा कालडी ग्राम में लब्धजन्मा प्रस्थानचतुष्टयीभाष्यकार साक्षाच्छिवावतार भगवत्पाद जगद्गुरु आदिशङ्कराचार्यमहाभाग[४] ने सामवेदीय तलवकारब्राह्मण के छान्दोग्योपनिषद् में प्रयुक्त इष्टापूर्त्त का भाष्य किया है-

(क) **'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते०...।'** (छान्दोग्योपनिषद् शाङ्करभाष्यम् ५/१०/३)। देवयान और धूमयान का व्यावर्त्तनस्थान-प्रसङ्ग में आचार्यवर्य ने कहा है - **'इष्टापूर्त्ते इष्टमग्निहोत्रादिवैदिकं कर्म, पूर्त्तं वापीकूपतडागारामादिकरणम्, दत्तं बहिर्वेदि यथाशक्त्यर्हेभ्यो द्रव्यसंविभागो दत्तम्०.।'**[५] अर्थात् अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म को 'इष्ट' कहते हैं तथा वापी, कूप, तडाग एवम् उपवन (बगीचे)

---

[१] अमरकोशः २/७ ब्रह्मवर्गः / २८ सुधारामाश्रमीटीकायाम्

[२] शब्दकल्पद्रुमः प्रथमः काण्डः, पृ. २१५; संस्कृत-हिन्दी कोश (वामनशिवराम आप्टेकृत), पृ. १७७, नाग प्रकाशन, नई दिल्ली

[३] शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहिता १८/६० महीधरभाष्यम्

[४] श्रीशङ्करावतरणम् - पृ. ५६ - स्वामीज्ञानानन्द सरस्वती, वाराणसी

[५] छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/३ शाङ्करभाष्यम्, गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करणम्,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आदि लगवाने का नाम 'पूर्त्त' है। वेदी से बाहर सुपात्र दीन-हीन व्यक्तियों को यथाशक्ति धनादि का दान करना 'दत्त' कहा जाता है।

(ख) अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् में **इष्टापूर्त्त** का उल्लेख प्राप्त होता है-, **'इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः०'** शाङ्करभाष्यम् - **इष्टं** यागादि श्रौतं कर्म, **पूर्त्तं** वापीकूपतडागादिस्मार्तम्।[१] पूर्वोक्त का ही समर्थन करते हुये श्रीशङ्कराचार्य्य ने कहा है - इष्ट यानी यागादि श्रौतकर्म और पूर्त्त वापीकूपतडागादि का निर्माण स्मार्त्त-कर्म नाम से अभिहित किये जाते हैं।

(ग) एवमेव, अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् में भी **इष्टापूर्त्त** उल्लिखित है । संवत्सरादि में प्रजापति आदि दृष्टि-विमर्श-प्रसङ्ग में - ..... **'तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।'** (शाङ्करभाष्यम्)..... **इष्टं च पूर्त्तं चेष्टा पूर्त्ते**.....।[२]

अर्थात् इष्ट तथा पूर्त्तकर्म ही **इष्टापूर्त्त** नाम से सम्बोधित किये जाते हैं जिनके द्वारा सन्तानार्थी ऋषि-स्वर्गद्रष्टा गृहस्थ लोग फलरूप से अन्नात्मक प्रजापति अर्थात् चन्द्रलोक पर ही विजय प्राप्त कर लेते हैं।

आद्यशङ्कराचार्य के परवर्त्ती वेदभाष्यकारद्वय आचार्य उव्वट तथा महीधराचार्य भी आपके ही भाष्य का अनुसरण करते हैं ;-

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॥

उव्वटभाष्यम् - ..... ततः **इष्टापूर्त्ते** च संसृजेथाम् त्वत्प्रसादाद्यजमानेन सह। अयं च यजमानः इष्टापूर्त्ताभ्यां संसृष्टो भवतु। ततः संसृष्टेष्टापूर्त्तो व्यपगतकल्मषः सन्०।.....

---

[१] अथर्ववेदीया मुण्डकोपनिषद् १/२/१० शाङ्करभाष्यम्, गीताप्रेस गोरखपुर संस्करणम्
[२] अथर्ववेदीया प्रश्नोपनिषद्, १/९ शाङ्करभाष्यम्, गीताप्रेस गोरखपुर संस्करणम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

महीधरभाष्यम् - ..... तत **इष्टापूर्त्ते** श्रौतस्मार्त्ते कर्म्मणी।[१] .....

अथर्ववेदसंहिता में प्रोक्त **इष्टापूर्त्तकर्म**-फल का विवेचन हमें पाँच स्थलों पर संयुक्त-रूप से प्राप्त होता है। ऐहिक-लौकिक मानव-जीवन में पारस्परिक शत्रुता को अभिशाप एवं सर्वथा विनाश का प्रमुख हेतु माना जाता है। वैदिक ऋषि भरद्वाज की प्रतिश्रुति है कि **इष्टापूर्त्तकर्मों** का पुण्यफल शत्रुता तथा शत्रु का समूलोच्छेद करने में समर्थ है, एतदर्थ शत्रुनाशनसूक्त में वे कहते हैं ;-

(१) ऐतरेयक महाक्रतु के बृहदुक्थ में कथित तृचाशीति वा तत्प्रतिपाद्य इन्द्रदेवता से वा साम (वेद) का गान करने वाले उद्गाता आदि से प्रयुक्त स्तोत्र, बारह आदित्य, आठ वसु, दीर्घसत्र का आरम्भ करने वाले अङ्गिरा नामक महर्षि और रुद्रों सहित हमारे पूर्वपुरुषों का श्रुतिविहितयाग आदि 'इष्ट' है और स्मृति में कथित कूप, बाग और तालाब आदि का निर्माण 'पूर्त्त' है, उन **इष्टापूर्त्त**-कर्मों से उत्पन्न हुआ पुण्यफल हमें शत्रु से रहित करे अर्थात् स्तुत शस्त्रों से और वसु, रुद्र, आदित्य आदि रूप देवताओं से भी निष्पादित पितरों का **इष्टापूर्त्तकर्म**-फल हमारी रक्षा करे। रक्षा की प्रार्थना का मूल प्रयोजन यह है कि - मैं इस अपकार करने वाले अमुक नाम के शत्रु को अपने किये हुये अभिचारजनित कृत्यारूप देवताकृत क्रोध से दण्ड देता हूँ ;-

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्त्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन॥

सायणभाष्यम्

.....पितृणाम् अस्मत्पूर्वपुरुषाणाम् **इष्टापूर्त्तम्**, इष्टं श्रुतिविहितं यागादि। पूर्त्तं स्मृत्युक्तं कूपारामतटाकादि तदुभयजनितं सुकृतं नः अस्मान् अवतु शत्रोः सकाशाद् रक्षतु० ।[२]

(२) प्रजापति ब्रह्मा शालानिर्माणसूक्त में वास्तोष्पति देवता की स्तुति में अन्त में कहते हैं - हे नारि ! इस जल से पूर्ण सुधामय जल से सम्पादित क्षरण (टपकने)

---

[१] शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनसंहिता १५/५४ उव्वटमहीधरभाष्ययोः
[२] अथर्ववेदसंहिता २/१२/४ शत्रुनाशनसूक्तम् - सायणभाष्यम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy. Kathmandu Collection

के स्वभाव वाले मधु, घृत आदि की धारा करने वाले कुम्भ को शाला में लाओ। इस कलशी को सुधारूप जल से भलीभाँति प्रकार से दमकाओ। हम जिस शाला में प्रवेश कर रहे हैं उसमें किया हुआ श्रौत और स्मार्त्तकर्म तथा तज्जनित पुण्यफल चोर और अग्नि के भय से हम सबकी रक्षा करे ;-

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्त्तमभि रक्षात्येनाम्॥

सायणभाष्यम्

.....एनां प्रविश्यमानां शालाम् इष्टापूर्त्तम् तत्र क्रियमाणं श्रौतं स्मार्त्तं च कर्म अभि रक्षाति अभितः चौराग्न्यादिभयाद् रक्षतु।[१]

(३) इष्टापूर्त्तकर्म-फल यजमान के लिये स्वर्गप्राप्ति का सशक्त उपादान है। भृगु ऋषि का कथन है कि - हे साथ निवास करने वाले देवताओ ! परमव्योम में इस यजमान से आप सुपरिचित रहिये। इस स्वर्ग में इसके स्थान को आप अनिवार्यतः सुनिश्चित करें अर्थात् कर्मानुष्ठान के समय ही आप इसके स्थान को नियत कर दें। यह यजमान हविः प्रदान के अनन्तर स्वर्ग में क्षेमपूर्वक आयेगा। इस आये हुये यजमान के लिये इसके किये हुये श्रुतिप्रतिपादित याग आदि इष्टकर्म और स्मृतिप्रोक्त वापी, कूप, तडाग आदि पूर्त्तकर्म को प्रकट करिये अर्थात् इसको इसके द्वारा सम्पादित किये गये इष्टापूर्त्तकर्मफल प्रदान करिये ;-

जानीत स्मैनं परमे व्योऽमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्रै।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीऽष्टापूर्त्तं स्म कृणुताविरस्मै॥

सायणभाष्यम्

इष्टापूर्त्तम् इष्टं श्रुत्युक्तयागादिकर्म, स्मृत्युक्तवापीकूपतटाकनिर्माणादिपूर्त्तम्[२]

---

[१] अथर्ववेदसंहिता ३/१२/८ शालानिर्माणसूक्तम् - सायणभाष्यम्
[२] अथर्ववेदसंहिता ६/१२३/२ सौमनससूक्तम् - सायणभाष्यम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(४)अथर्वसंहिता का अट्ठारहवाँ काण्ड पितृमेध-विषयक है। इसमें चार सूक्तों में दो सौ तिरासी २८३ मन्त्र हैं। पितृमेध एक पारिभाषिक वैदिक पद है जिसका शाब्दिक निहितार्थ पितरों (मृत पूर्वजों) के निमित्त किया जाने वाला यज्ञ, श्राद्ध है। अधोलिखित मन्त्र में अथर्वा ऋषि की उक्ति है - जिस मुख्य वस्त्र को तू पहले पहिन रहा था, उस वस्त्र को तू त्याग दे और जिन इष्टापूर्त्तों में तूने बान्धवों को बहुत-सा धन दिया था। उस श्रुतिविहित अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास आदि इष्टकर्म के फल को और स्मृतिविहित वापी, कूप, तटाक आदि पूर्त्त के फल को प्राप्त हो ;-

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूहू यदिहाबिभः पुरा।
इष्टापूर्त्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु॥

सायणभाष्यम्

..... इष्टापूर्त्तम् इष्टम् श्रुतिचोदितम् अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्म, पूर्त्तम् स्मृत्युदितं वापीकूपतडागादिनिर्माणम् तद् उभयं स्वात्मना कृतम् अनुलक्ष्य सङ्क्राम गच्छ समाप्नुहि०।[१]

(५) इसी १८ वें काण्ड के अग्रिम तृतीय पितृमेधसूक्त में अथर्वा ऋषि का कथन है - हे मृतपुरुष ! तू जिसमें सपिण्डी आदि की जाती है उस सपिण्डीकरणश्राद्ध तक के पैतृमेधिक कर्म से पिता, पितामह प्रपितामह आदि पितरों के साथ मिल जा। अर्थात् पितरों के मध्य में स्थान पा और जो उनका राजा यम है उनसे भी मिल तथा पितृलोक से भी श्रेष्ठ कर्मफलभोग के स्थान परमव्योम स्वर्ग में श्रुति से प्रत्यक्षविहित याग, होम, दान आदि इष्ट से तथा स्मृति, पुराण और शास्त्रों से विहित बावड़ी, कुआँ, तालाब, मन्दिर बनाना आदि पूर्त्त से संयुक्त हो अर्थात् इनके फल को भोग तथा पाप को त्यागकर उत्तमलोक में स्थित घर को पा। सुन्दर दीप्ति वाला तेरा आत्मा स्वर्गलोक के योग्य शरीर को प्राप्त करे ;-

[१] अथर्ववेदसंहिता १८/२/५७ पितृमेधसूक्तम् - सायणभाष्यम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योऽमन्।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वाऽसुवर्चाः॥

सायणभाष्यम्

हे मृतपुरुष ! त्वं पितृभिः पितृपितामहप्रपितामहैः सं गच्छस्व पैतृमेधिकेन सापिण्ड्यकरणावधिना संस्कारेण हेतुना सङ्गतो भव। पितृषु मध्ये प्राप्तस्थानो भवेत्यर्थः। यस्तेषां राजा यमः तेनापि सं गच्छस्व। तथा परमे उत्कृष्टे पितृलोकादपि श्रेष्ठे व्योमन् व्योम्नि द्युलोके नाकपृष्ठाख्ये कर्मफलोपभोगस्थाने। इष्टापूर्त्तेन इष्टम् प्रत्यक्षश्रुतिचोदितं यागहोमदानादि, पूर्त्तम् स्मृतिपुराणागमचोदितं वापीकूपतटाक-देवागारनिर्माणादि। तेन उभयेन सं गच्छस्व। तत्फलम् उपभुङ्क्ष्वेत्यर्थः। तथा अवद्यं पापं हित्वा त्यक्त्वा अस्तम् गृहनामैतत्। उत्तमलोकस्थितं गृहं पुनरेहि प्राप्नुहि। सुवर्चाः शोभनदीप्तिकस्तव आत्मा तन्वा स्वर्गलोकभोगयोग्येन शरीरेण सं गच्छताम् सं युज्यताम्। "समो गम्यृच्छि०" इति सम्पूर्वाद् गमेरकर्मकाद् आत्मनेपदम्॥[१]

अथर्ववेद में इष्टापूर्त्त के इन सम्मिलित स्वरूप के सन्दर्भों के अतिरिक्त भी पृथक्-पृथग् इष्ट और पूर्त्त के चौदह १४ स्थलों पर उल्लेख प्राप्त होते हैं जो कि पञ्चौदन अज, अतिथिसत्कार, उच्छिष्टब्रह्म, ब्रह्मगवी, परमात्मा, पितृमेध, विजयाय प्रार्थना, आत्मा, सविता, इन्द्र, सौमनस तथा क्षत्रियसूक्तादि में सन्निविष्ट हैं। इन सबका विशद विवेचन एक स्वतन्त्र आलेख की अपेक्षा रखता है। विस्तारभय से बचते हुये हम केवल निदर्शन-रूप में इष्ट-पूर्त्त (इष्टापूर्त्त) कर्मफल के प्रतिपादक कतिपय वैदिक सङ्केतों को उद्धृत करते हैं ;-

जो व्यक्ति अतिथि से पहले भोजन कर लेता है, वह घर भर के पुरुषों के इष्ट (श्रुतिविहितयाग) कर्म के और पूर्त्त (स्मृतिविहित बावड़ी, कुआँ, मन्दिर, तालाब बनवाना आदि) कर्म के फलों का भक्षण कर लेता है, फल को नष्ट कर डालता है ;-

[१] अथर्ववेदसंहिता १८/३/५८ पितृमेधसूक्तम् - सायणभाष्यम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥[१]

जो क्षत्रिय ब्राह्मण की गौ को छीनकर उसकी आयु को कम करता है, उस क्षत्रिय को ओज, तेज, शत्रुओं को पराभूत करने की शक्ति, बल, वाणी, इन्द्रियाँ, श्री, धर्म, वेद क्षात्त्रशक्ति, राष्ट्र, प्रजायें, दीप्ति, यश, वर्च और धन, आयु, रूप, नाम, कीर्त्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, पय, रस, अन्न, अन्न की पाचनशक्ति, अग्नि (जठर), ऋत, सत्य, श्रुतिविहित याग आदि इष्ट और स्मृतिविहित कूप, तटाक आदि निर्माणजन्य पूर्त्त, प्रजा और पशु - ये सब छोड़ देते हैं ;-

पय॑श्च॒ रस॒श्चान्नं॑ चा॒न्नाद्यं॒ च॒र्तं च॑ स॒त्यं चे॒ष्टं च॑ पू॒र्त्तं च॑ प्र॒जा च॑ प॒शव॑श्च॥[२]

ब्राह्मण की होमधेनु को अथर्वसंहिता में ब्रह्मगवी पद से सम्बोधित किया गया है। जो ब्रह्मगवी को ब्राह्मण से छीन लेता है, तो वह गौ छीनने वालों के तेज, इष्ट, पूर्त्त और आशीर्वादों को हर लेती है ;-

आ द॑त्से जि॒न॒तां वर्च॑ इ॒ष्टं पू॒र्त्तं चा॒शिषः॥[३]

धर्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) श्रुतिप्रामाण्यसिद्ध है। अथर्ववेद के अगणित प्रामाण्यों की समन्विति धर्मशास्त्र अथवा धर्मसूत्रों में परिलक्षित होती है। ये सभी कल्प (वेदाङ्ग) के अन्तर्गत आते हैं। निष्कर्षतः वर्तमान में इष्टापूर्त्त-कर्म की उपादेयता तीर्थाटन (पर्यटन) तथा सांस्कृतिक-प्राकृतिक पर्यावरण-संरक्षण की दृष्टि से अत्यन्त प्रासङ्गिक है। कर्मभूमि भारतवर्ष में इष्टकर्म-यज्ञयागादि के सम्पादन से एक ओर जहाँ आधिदैविक के साथ ही साथ आध्यात्मिक सुख-शान्ति की सिद्धि होगी, वहीं दूसरी ओर पूर्त्तकर्म के माध्यम से वास्तुशिल्पशास्त्र आधारित स्थापत्य-कला-संरचनाओं आदि के द्वारा चिरस्थायी, भव्य देवालयों-मन्दिरों, दुर्गों (किलों), विशाल महालयों (महलों), भवनों, प्राकृतिकसंरक्षण में परमोपयोगी वायुशुद्धिकारक एवं स्वास्थ्यवर्द्धक दुर्लभ आयुर्वेदीय औषधीय वृक्षों के सघन उपवन-वाटिकाओं के निर्माण से स्वदेशी-

---

[१] अथर्ववेदसंहिता ९/६/३(१) अतिथिसत्कारसूक्तम्
[२] अथर्ववेदसंहिता १२/५(२)/१० ब्रह्मगवीसूक्तम्
[३] अथर्ववेदसंहिता १२/५/(६)/५६ ब्रह्मगवीसूक्तम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विदेशी पर्यटकों को पर्याप्त मात्रा में आकर्षित करके भारतीय-अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान किया जा सकता है और असङ्ख्य बेरोजगार युवाओं को 'गाइड' (मार्गदर्शक) के रूप में सुप्रशिक्षित करके जीविकोपार्जन का एक सशक्त माध्यम भी उपलब्ध कराया जा सकता है।

प्राचीनकाल से **इष्टापूर्त्त** की इसी पवित्र अवधारणा के कारण सम्पूर्ण तीर्थस्थलों में उदारमना दानदाताओं द्वारा स्व-न्यायोपार्जित विशुद्ध धनराशि से निरन्तर श्लाघनीय निर्माण-कार्य निःस्पृहभाव से कराया जाता रहा है जिसका सुपरिणाम भारतवर्ष में प्रत्यक्ष हमारे सम्मुख विद्यमान है। सम्प्रति भौतिक चाकचिक्य की संलिप्तता के कारण इस क्षेत्र में प्रायशः न्यूनता परिलक्षित हो रही है। शासन-प्रशासन की उदासीनता भी इसके लिये अधिक उत्तरदायी है। जिन कतिपय भारतीयों या अप्रवासी भारतीयों, औद्योगिक पूँजीपतियों के द्वारा **इष्टापूर्त्त** की धर्मशास्त्रीयदृष्टि से पुण्यलाभार्थ निर्माण-कार्य सम्पन्न कराये जा रहे हैं वे धार्मिक तो कम, निर्धन श्रमिकों के आर्थिकशोषणपूर्वक करापवञ्चन की सुविधाप्राप्त्यर्थ अधिक सिद्ध होते प्रतीत हो रहे हैं। इन सबके लिये परम आदर्श होना चाहिये इन्दौर (म.प्र.) की होलकरवंश की निष्कामकर्मयोगिनी, महिला, महासाम्राज्ञी देवी अहिल्यावाई होलकर, जिन्होंने भारतवर्ष तथा हिन्दूराष्ट्र नयपाल (नैपाल) के अधिकांशतः सभी पावन तीर्थस्थलों में वास्तुशिल्प-स्थापत्यकलादि की दृष्टि से समलङ्कृत-शैली में आकर्षक भव्य देव-मन्दिर, वाग-बगीचे, कुआँ-बावड़ी-तालाब, गौशालायें, वैदिक शिक्षा-केन्द्र तथा विशालकाय धर्मशालायें इत्यादि बनवायीं। स्वनामधन्य पुण्यश्लोक महामना पं. श्रीमदनमोहनमालवीयजी महाराज, वाराणसी (उ.प्र.) में विश्वविख्यात श्रीकाशी हिन्दू विश्वविद्यालय की तथा कीर्त्तिशेष स्वामी श्रीश्रद्धानन्दजीमहाराज श्री गुरुकुल काङ्गडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराञ्चल) सदृश अप्रतिम विद्याकेन्द्र की संस्थापना करके अमर हो गये।

वैदिकवाङ्मय में विनिर्दिष्ट लोकोपकारक **इष्टापूर्त्त**-व्यवस्था का समग्र भारतभूमि में जनगण द्वारा परिपालन हो जिससे आर्ष-आर्यपरम्परा का सातत्य बना रहे और

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

फलस्वरूप व्यष्टि-समष्टि जगत् सर्वथा सुख-शान्ति-समृद्धि सम्पन्न हो। समाजसेवा के क्षेत्र में सन्नद्ध एवं सश्रद्ध रुचि रखने वाले महानुभाव श्रद्धा-निष्ठापूर्वक निष्काम, निःस्पृहभाव से इस श्रुतिसम्मत स्मार्त्तकर्म **इष्टापूर्त्त** को सम्पादित करके अक्षय यशोभाजन बनें। भारतमाता के सम्पूर्णतया संरक्षण तथा विकास में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करें।

॥ इत्योम् शम् ॥

डॉ. सदानन्द त्रिपाठी
शासकीयः संस्कृतमहाविद्यालयः
जयसिंहपुरामार्गम्, उज्जयिनी (म.प्र.) ४५६००१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

ऋग्वेद-शाखा-विमर्श

डॉ. अमलधारी सिंह

भारतीय वाङ्मय में वेद प्राचीनतम एवं प्रशस्ततम रत्न हैं। साहित्य में उनका स्थान निरतिशय एवं सर्वोत्कुष्ट है । वेद ही भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की आत्मां हैं। आर्य जाति के जाज्वल्यमान, गौरवमय स्वर्णम अतीत को सुस्पष्टरूप से अभिव्यक्त करने वाले ये ही वेद विमल दर्पण हैं। हमारी सनातन तथा शाश्वत सभ्यता एवं संस्कृतिरूपी भव्य विशाल प्रासाद को सुप्रतिष्ठित तथा अक्षुण्ण बनाये रखने वाले ये ही सदृढ आधार हैं। इन्हीं से अनुप्राणित तथा ओतस्वित हुई आर्यसभ्यता पुण्यसलिला भगवती भागीरथी के अजस्त्र, अव्यवहित, निर्बाध प्रवाह की भाँति बाह्य-देशीय सभ्यताओं के अत्यन्त प्रबल थपेडों से झकझोरी जाने पर भी आज अपने स्वतन्त्र, अनुपम स्वरूप को पृथक् बनाये हुये अनवरत रूप से चली आ रही है। पथ में भटकते हुए पथिक के जीवनपथ को प्रशस्त करने वाले, निविड तिमिर में आलोक प्रदान करने वाले वेद आर्यों के आर्ष, अप्रतिहत, दोषरहित, चिरन्तन एवं सनातन चक्षु हैं ;-

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ - मनु. १२/९४

अतीत, वर्तमान, अनागत, विप्रकृष्ट, समीपस्थ, व्यवहित, अन्तर्हित, परोक्ष, अपरोक्ष, स्थूल, सूक्ष्म समस्त पदार्थों को सम्यक् रूप से प्रकाशित करने वाले वेद ही हैं ;-

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भवच्चापि सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥ - मनु.
'यद् ब्रह्मविद्यया वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते आचार्याः ।'

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वेद ही लोकोत्तर, आध्यात्मिक तत्त्वों की विमल राशि एवम् उत्कृष्टतम निधि हैं। आर्यभूमि में अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित होने वाले समस्त धर्म एवं दर्शनों के ये ही वेद प्रभव, मूल हैं ;-

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'

"यः कश्चित्कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥"

अलौकिक तत्त्वों के साक्षात्कार एवं रहस्योद्घाटन के वेद अनुपम साधन हैं। प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से अगम्य पदार्थों का सम्यग् बोध वेद द्वारा ही सम्भव है ;-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

..पूत ऋषियों के प्रातिभ चक्षु से सतत साधना, अनवरत अध्यवसाय एवम् अभ्यास द्वारा साक्षात्कृत ज्ञान की विमल राशि ही वेद हैं ;-

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'

'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः'

जो आर्यजाति के मानसिक विकास के चूडान्तस्वरूप को प्रस्तुत करते हैं । गहन अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा साधना से उद्भूत समस्त ज्ञान-विज्ञान की चरम परिणति, परम प्रकृष्ट-रूप वेदों में उपलब्ध होता है। श्रद्धालु भारतीय-दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं, सभी प्रकार के दोषों से विवर्जित, निर्दोष हैं। अतः उनका प्रामाण्य स्वतः है ;-

'वेदास्तु निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्'

जीवन में काम एवं मोक्ष दो ही प्राप्तव्य अर्थ हैं और इन्हीं की सिद्धि ही पुरुष के समस्त प्रयासों, क्रिया-कलापों की जननी है। इन द्विविध प्रयोजनों को प्रदान करने में ही वेद का वेदत्व है ;-

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयते स वेदः ।
विद्यन्ते, ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा धर्मादिपुरुषार्था एभिरिति वेदाः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विदन्त्येभिर्धर्मब्रह्मणी क्रियाज्ञानमयं ब्रह्म वेति वेदाः ।

इस प्रकार वेद-अध्ययन से कर्त्तव्य एवम् अकर्त्तव्य का बोध होने से लौकिक सुख की प्राप्ति तथा ब्रह्म, ज्ञान की उपलब्धि होने से पारलौकिक सुख, अपवर्ग की सिद्धि होती है ;-

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति, विद्ययाऽमृतमश्नुते । ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। इसीलिये भगवान् पतञ्जलि ने व्याकरण-महाभाष्य में विधान किया है ;-

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'

तथा इसी कारण भगवान् मनु ने अत्यन्त क्षोभ भरे शब्दों में वेदानध्यायी की कटु भर्त्सना की है ;-

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

काव्यकला की दृष्टि से भी वेद बेजोड़ हैं । भाषाविज्ञान की दृष्टि से वेदों का स्थान अधिक गौरवशाली एवं महत्त्वपूर्ण है । संस्कृत प्राचीनतम भाषा है और वेद उसके प्रथम निदर्शन। इस प्रकार भाषाविज्ञान को एक सुप्रतिष्ठित आधार उपलब्ध होता है । अतः इस वेद-कल्पतरु की जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह सब न्यून ही है । भारतीय सभ्यता-संस्कृति, धर्म-दर्शन, आचार-विचार, रहन-सहन, क्रिया-कलाप, शिक्षा-दीक्षा, समस्त जीवन ही वेद से ओतप्रोत है । वेद ही हमारे सर्वस्व हैं । यह अनादि, शाश्वत वेदरूपी दुर्ग अष्टविकृतियों से सुरक्षित है ;-

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥

तथा आज भी समस्त विकारों से रहित अपने उसी मूल स्वरूप में विद्यमान हैं । परिवर्तनशील समय की परिधि से वे परे हैं ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यथार्थतः यह वेद एक होने पर भी स्वरूप-भेद से चतुर्विध है। अतिविशाल एवं दुर्बोध इस वेद को लोकानुग्रह की कामना से सुगम तथा सरल रीति से ग्रहण करने के उद्देश्य से भगवान् वेदव्यास ने इसे चार भागों में विभक्त किया ;-

वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन।
समाम्नासिषुः सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः॥

- दुर्गाचार्यः निरुक्तवृत्तिः १/२०

वेदान् विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इति स्मृतः।

सभी वेदों को ब्रह्म के एक ही प्राणात्मक-रूप में विद्यमान समझना चाहिए ;-

सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

- ऐतरेयारण्यक २/१०

श्रीमद्भागवतपुराण के अनुसार चतुर प्रभु ने अपने चारों मुखों से अपने पुत्रों को वेद पढ़ाया। पितृमुख से अधीत वेद-ज्ञान को इन ऋषियों ने अपने पुत्रों को पढ़ाया। इस प्रकार यह परम्परा चलती रही। यह वेद-ज्ञान अत्यन्त दुर्विज्ञेय था। अल्पायु एवं सामान्य मेधा वाले मानव के लिए विविध प्रकार की बाधाओं में रहकर इस दिव्य तथा अनुपेक्षणीय ज्ञान का अर्जन करना सम्भव नहीं था। अतएव धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मादि देवों तथा लोकपालों से प्रार्थना किये जाने पर भगवान् ने लोकानुग्रह की भावना से द्वापर के अन्त में ऋषि पराशर एवं सत्यवती से महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के रूप में अवतीर्ण होकर इस विपुल वेद-राशि को ऋग्, यजुस्, साम, अथर्व-रूप से चतुर्विध किया तथा इन संहिताओं को क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, सुमन्तु नामक चार शिष्यों को पढ़ाया। गुरु से प्राप्त इस वेद-ज्ञान का इन व्युत्पन्न शिष्यों ने बहुत अधिक प्रचार-प्रसार किया। इस प्रकार यह वेदवृक्ष अनन्त विविध शाखा-प्रशाखाओं से समलङ्कृत हो गया ;-

अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवाँल्लोकभावनः।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये॥५॥
पराशरात्सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥६॥
ऋगथर्वयजुः साम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः ।
चतस्रः संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह ।
वैशम्पायनसञ्ज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥९॥
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् ।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ॥१०॥

- भागवत १२/६/५-१०

"तत्रग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ॥

- भागवत १/४/२१

वेदव्यास द्वारा एक ही वेद की चतुर्धा विभक्त किये जाने की पुष्टि विष्णुपुराण भी करता है ;-

"आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसम्मितः ।
ततो दशगुणः कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्वकामधुक् ॥
अत्रैव मत्सुतो व्यास अष्टाविंशतिमेऽन्तरे ।
वेदमेकं चतुष्पादश्चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः ।
ब्रह्मणा चोदितो व्यासो वेदान्यस्तु प्रचक्रमे ।
अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदपारगान् ॥
ऋग्वेदश्रावकं पैलं सञ्जग्राह महामतिः ।
वैशम्पायननामानं यजुर्वेदस्य चाग्रहीत् ॥
जैमिनिः सामवेदस्य तथैवाथर्ववेदवित् ।
सुमन्तुस्तस्य शिष्योऽभूद्वेदव्यासस्य धीमतः ॥

आश्वलायनगृह्यसूत्र ३/४ भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है ;-

सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्याः'

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार एक ही वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद-रूप से चार प्रकार का हो गया ;-

तत्र ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति । - चरणव्यूह १/३

ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति ।

- मृ. ता. उप. १/२

गुरु-शिष्य-परम्परा से ये ही चारों वेद विविध प्रकार की शाखाओं से समृद्ध हो गये । भगवान पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १००, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं ;-

चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः । एकशतमध्वर्युशाखाः । सहस्रवर्त्मा सामवेदः । एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् । नवधाथर्वणो वेदः ।

(व्याकरणमहाभाष्य पस्पशाह्निक)

एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् । एकशतधाध्वर्यवम् । सहस्रधा सामवेदम् । नवधाथर्वणम्" - दुर्ग निरुक्त १/२०

किन्तु इन शाखाओं की सङ्ख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है तथा भगवान् पतञ्जलि-निर्दिष्ट ये सभी ११३० वेदों की शाखाएँ आज उपलब्ध नहीं होतीं ।

इन चारों वेदों में ऋग्वेद प्राचीनतम है तथा सभी दृष्टियों से सर्वाधिक गौरवशाली है। व्याकरण-महाभाष्य के अनुसार किसी समय इस वेद की २१ शाखाएँ थीं । चरणव्यूह के अनुसार शाकल, वाष्कल, ऐतरेयब्राह्मण, ऐतरेय-आरण्यक, शाङ्खायनब्राह्मण, माण्डूकोपनिषद्, कौषीतकीयब्राह्मण एवं कौषीतकीय-आरण्यक रूप से इस वेद के ८ स्थान हैं ;-

तत्र ऋग्वेदस्याष्टौ स्थानानि भवन्ति । - चरणव्यूह १/४

साथ ही यह ऋग्वेद की पाँच शाखाओं का उल्लेख करता है ;-

एतेषां शाखाः पञ्चविधा भवन्ति - १/७

आश्वलायनी शाङ्खायनी शाकला बाष्कला माण्डूकायनाश्चेति - १/८

१. शाकलशाखा -

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वर्तमान समय में चरणव्यूह द्वारा निर्दिष्ट ऋग्वेद की पञ्चविध शाखाओं में से केवल एक ही शाकलशाखा की संहिंता उपलब्ध होती है । इसका सर्वप्रथम, प्रकाशन पाश्चात्य-विद्वान् मैक्समूलर महोदय द्वारा सायणभाष्य सहित १८४९-७५ में किया गया तथा इसीका द्वितीय संशोधित संस्करण १८९०-९२ में निकाला गया । आज उपलब्ध होने वाली ऋग्वेद की सभी प्रकाशित संहितायें इसीकी प्रतिलिपि हैं । इस ऋग्वेद का दो प्रकार का विभाजन प्राप्त होता है - (१) अष्टकक्रम, (२) मण्डलक्रम। अष्टकक्रम के अनुसार इस वेद में ८ अष्टक, ६४ अध्याय, २००६ वर्ग एवं १०५८०$^{1}/_{4}$ मन्त्र हैं तथा मण्डलक्रम की दृष्टि से इसमें १० मण्डल, ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त एवं १०५८०$^{1}/_{4}$ मन्त्र हैं ।

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च ।

ऋचामशीतिः पादश्चैतत्पारायणमुच्यते ॥ - अनुवाकानुक्रमणी, ४३

इनके अतिरिक्त 'बालखिल्य' नाम से प्रसिद्ध ११ सूक्त इस संहिता में परिशिष्ट रूप से पाये जाते हैं। इन सूक्तों की स्थिति अष्टम मण्डल में सूक्त ४९ से ५९ तक है । शाकलसंहिता की समाप्ति **'समानी व आकूतिः'** १०/१९१/४ मन्त्र से होती है ।

२. बाष्कलशाखा -

इस शाखा की संहिता वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होती । पर यत्र-तत्र इसके कुछ निर्देश मिलते हैं, जिनके आधार पर शाकल से इसकी विशेषतायें सुस्पष्ट प्रतीत होती हैं। इस संहिता में सूक्तों की सङ्ख्या १०२५ , वर्गों की २०१० अर्थात् शाकलसंहिता से ८ अधिक हैं । इन अधिक प्राप्त ८ सूक्तों ११ बालखिल्य सूक्तों में से प्रथम ७ सूक्त तथा १ सञ्ज्ञानसूक्त सङ्गृहीत है । **'प्रति ते', 'युवं देवा', यमृत्विजो, 'इमानिवाम्'** (अष्टक ६ अध्याय ४ वर्ग २७-३०) इन चार बालखिल्यसूक्तों का संहिता में नितान्त अभाव है । इस प्रकार इस संहिता के अष्टम मण्डल में शाकल के ९१ सूक्तों की अपेक्षा ९९ सूक्त हैं ;-

एतत्सहस्र दशसप्त चैवाष्टावंतो बाष्कलेऽधिकानि ।

तान् पारणे शाकले शौशिरीये वदन्ति शिष्टानखिलेषु विप्राः ।।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

- अनुवाकानुक्रमणी ३६

शाकल एवं बाष्कल इन दोनों संहिताओं के प्रथम मण्डल के सूक्तों के क्रम में भी पर्याप्त भेद है। वाष्कलसंहिता का पर्यवसान 'तच्छंयोरावृणीमहे' मन्त्र से होता है।

३. माण्डूकायनशाखा

इस शाखा की संहिता, ब्राह्मण, कल्पसूत्र इत्यादि नहीं प्राप्त होते।

४. शाङ्खायनशाखा

इस शाखा की संहिता अनुपलब्ध बतलाई जाती है। पं. बलदेव उपाध्याय (वैदिक सहित्य और संस्कृति, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२८) इस संहिता को लुप्त हुई बतलाते हैं। किन्तु इस शाखा का ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् विद्यमान है।

५. आश्वलायनशाखा

पं. बलदेव उपाध्याय तथा अन्य विद्वानों के मत में इस शाखा का केवल श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र ही सुरक्षित है, शेष संहिता, ब्राह्मण इत्यादि कालक्रम से लुप्त हो चुके हैं।

इस प्रकार वर्तमान काल में चरणव्यूह द्वारा उल्लिखित ऋग्वेद की ५ शाखायें भी हैं। किन्तु, किसी समय ये सभी शाखायें विद्यमान थीं और ये सभी ऋग्वेद से ही सम्बद्ध हैं। क्योंकि -

ऋचां समूह ऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः।
पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम् ॥
साङ्खाश्वलायनौ चैव माण्डूका बाष्कलास्तथा।
बह्वृचा ऋषयः सर्वे पञ्चैते ह्येकवेदिनः ॥

किन्तु अभी तक एकमात्र शाकल के ही प्रकाश में आने के कारण शेष संहिताओं को लुप्त हुई कहा जाता है। पर यह अत्यन्त ही हर्ष का विषय है कि इन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy. Kathmandu Collection

लुप्त मान ली गई संहिताओं में से शाङ्खायन एवम् आश्वलायन दो संहितायें राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के पुरातत्त्व-मन्दिर में सुरक्षित हैं । दोनों ही संहितायें अष्टकक्रम में ८ भागों में पूर्णतः विद्यमान हैं । साथ ही यह विशेष उल्लेखनीय है कि ये संहितायें अपने-अपने पदपाठसहित सुरक्षित हैं। शाङ्खायनसंहिता की एक प्रति तथा आश्वलायनसंहिता की दो-दो प्रतियाँ पदपाठसहित हैं । ये सभी प्रतियाँ अहमदनगर से विद्यानुरागी, सनातन-आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति के उन्नायक अलवर- महाराज सवाई विनय सिंह जी द्वारा अलवर मँगाई गई थीं और यहीं से ये सभी प्रतियाँ प्रतिष्ठान के लब्धप्रतिष्ठ, विद्वद्वरेण्य भूतपूर्व निदेशक डॉ. फतह सिंह जी को उपलब्ध हुईं । पदपाठसहित ये संहितायें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न समय एवं भिन्न-भिन्न स्थानों पर लिखी गईं । इनके मुखपृष्ठ पर तथा अन्त में शाखा, संहितापाठ, पदपाठ, लेखक, संवत्सर, समय, स्थान इत्यादि का सुस्पष्ट निर्देश होने से इनकी प्रामाणिकता में सन्देह के लिए लेशमात्र भी अवकाश नहीं है ;-

शाङ्खायनसंहितापाठः, दवे अविमुक्तेश्वर नी पोथी"; "आश्वलायनसंहितापाठः" "सं. १७५९ माघ बदी २ शनि अद्ये.....नागरजातीय राजपुरे दवे पाठावास्तव्यं दीक्षितशिवरामकुँअरजीयेन लिखितमिदं शुभं"

आश्वलायनप्रथमाष्टकः (द्वितीयप्रति) 'दुन्दुभिनाम संवत्सरे कार्तिक बहुल ८ इन्दुवासरे इदं पुस्तकं रावुलकोल्लुशायिभट्टन लिखितं'

शाङ्खायनचतुर्थाष्टकः - संवत् १७६१ फाल्गुन कृष्णा ५ तद्दिने नृसिंहभट्ट उपासनी लिखितं"

आश्वलायनचतुर्थाष्टकः - "संवत् १८१- कार्तिके कृष्णपक्षे द्वितीया गुरुवासरे लिलेख रामचन्द्रस्तु काश्यां ब्राह्मणतुष्टये"

आश्वलायनपञ्चमाष्टकः - "शके १६३६ । वर्षे पिङ्गलनामसंवत्सरे आषाढ़ सुदी अष्टमी मंगलवारे तद्दिने सम्पूर्णं"

"संवत् १७७१- सामकोपनामकबनभट्टसुतबैजनाथभट्टस्य । शके १६२६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आश्वलायन " इति चतुष्षष्ठितमोऽध्यायः । समाप्तः । शुभं भवतु । श्रीरस्तु । यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया । यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते । संवत् १७५८ वर्षे माघ.....रविवासरे लिखितं व्यासः.....आनन्दराम गङ्गाराम = पटना । श्रीः श्रीः ।

शाङ्खायन- । ऊँ नमो ब्रह्मणे नमो स्वग्नये नमः पृथिव्यै.....संवत् १६५९ वर्षे मार्गशीर्षशुदि ५ सोमे श्रीमद्वाराणसीमध्यात्.....नागरजातीय दूबे केशवसुन....रघुनाथेन धर्मदत्त लिखापितमिदम् । पाठलेखकयोः कल्याणं भूयते । शुभं भवतु ।

यह सर्वाधिक प्रसन्नता का विषय है कि पदपाठसहित इन दोनों ही संहिताओं का प्रकाशन शाकलसंहिता की समालोचना के साथ प्रतिष्ठान के ही मनीषी विद्वान् वेदमूर्ति डॉ. फतह सिंह जी के निर्देशन में सम्पन्न किया जा चुका है । जो एक महान् आश्चर्य एवं विस्मय के रूप में अति शीघ्र ही विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हो जायेगा। वैदिकसाहित्य के क्षेत्र में यह एक अद्भुत उपलब्धि है, जिसके लुप्त होने के विषय में विद्वानों को पूर्ण निश्चय हो चुका था ।

उपलब्ध इन दोनों संहिताओं की कुछ प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं ;-

क. संहितापाठ -

शाङ्खायन एवम् आश्वलायन दोनों ही संहिताओं में परस्पर सादृश्य अधिक है तथा शाकल के साथ स्थान-स्थान पर इनका भेद सुस्पष्ट है ।

१. शाङ्खायन एवम् आश्वलायन इन दोनों ही संहिताओं में द्वित्व की बहुलता पाई जाती है । यथा -

वर्त्तनिं - १.३.३; १.२५.९; १.३१.६, मर्त्त्यं १.५.१०; १.१७.८; १.१८.४,५; १.१९.२; १.२१.६; १.२६.९; १.२७.३,७; धर्त्तारा १.१७.२; धूर्त्तिः १.१८.३; गर्द्दभं १.२९.५; ऊर्द्ध १.३०.६; ततर्द्द १.३२.१; सर्त्तवे १.३२.१२ किन्तु शाकलसंहिता में इस द्वित्व का प्रायः अभाव है । यथा - वर्तनिं, मर्त्य, धर्तारा, धूर्तिः, गर्दभं, उर्ध्व, ततर्द, सर्तवे । साथ ही इस द्वित्व की स्थिति शाङ्खायन की अपेक्षा आश्वलायनसंहिता में प्रचुर रूप में दृष्टिगोचर होती है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy. Kathmandu Collection

अर्च्चति १.९.१०; वर्द्धय १.१०.४,५; धर्म्माणः १.१२.७; तर्प्पयेथाम् १.१७.३; शर्म्म १.२२.११; वर्च्चसा १.२३.२,३; मूर्द्धानं १.२४.५; मुर्व्वी १.२४.९; वर्म्मे १.३१.५; दुर्म्मदः १.३२.६।

इन संहितापाठों की अपने-अपने पदपाठों के साथ अनुरूपता मिलती है। अतः इनके प्रामाण्य में सन्देह नहीं है।

२. इन दोनों ही संहिताओं में 'च्छ' के स्थान पर सर्वत्र 'छ' पाया जाता है। यथा गछति १.१.४ < गच्छति। अछ १.२.२, १.१३.९ < अच्छ। पृछ १.४.४. < पृच्छ।

३. शाङ्खायन एवम् आश्वलायन संहितापाठ में 'ए' तथा 'ओ' के बाद 'अ' स्थानीय अवग्रह (ऽ) का सर्वथा अभाव है, जो शाकलसंहिता में सर्वत्र पाया जाता है। यथा-

सूनवेग्ने १.१.९. < सूनवेऽग्ने। नोव < नोऽव। नोवसा १.३९.७< नोऽवसा।

४. शाङ्खायनशाखा के संहितापाठ में स्वर से पूर्व नियमतः सर्वत्र अवग्रह का प्रयोग पाया जाता है। यथा -

सऽइद्देवेषु १.१.४ < स इद्देवेषुशा; शाङ्ख०। सोमाऽअरंकृताः १.२.१ < सोमा अरंकृता। तुविजाताऽउरुक्षया १-२-९ < तुविजाता उरुक्षया। दधातेऽअपसम् १-२-९ < दधाते अपसम्। मानोऽअतिख्यऽआगहि १-४-३ < मा नो अतिख्य आगहि। दधानाऽइन्द्रऽइद्दुवः १-४-५

पर स्वर से पूर्व इस अवग्रह (ऽ) का शाकल तथा आश्वलायन-संहिताओं में नितान्त अभाव है।

५. शाङ्खायनसंहिता में प्रत्येक अध्याय के अन्त में अनुक्रमणी दी हुई है। इसका अन्य संहिताओं में अभाव है। यथा -

शाङ्खायनसंहिता प्रथमाष्टके प्रथमोध्यायः -

अग्निमीले० ।१। यदङ्ग ।२। वायवा याहि० ।३। वायविन्द्रश्च० ।४।

..... ये नाकस्या० ।३७।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

६. आश्वलायनसंहिता में कहीं-कहीं पर 'ज' के स्थान पर 'य' मिलता है। यथा - मय्मना १.१२.३,४; १.८४.६; < मज्मना = शा०; शाङ्ख०। युनय्मि १.८२.६ < युनज्मि। अय्मन्ना १.११२.१७ < अज्मन्ना।

७. इन संहिताओं में यत्र-तत्र कुछ पाठभेद भी दर्शनीय हैं, जिनकी पुष्टि इनके पदपाठ से हो जाती है। यथा -
'देवस्य भर्गः १.१४१.१ के स्थान पर शाङ्खायनशाखा के संहिता तथा पदपाठ में 'मित्रस्य गर्भः' पाठ मिलता है।

ख. पदपाठ

पदपाठ की पद्धति में विशेषकर समस्त पद-विच्छेद के लिए अवग्रह-विधान में शाकल से शाङ्खायन एवम् आश्वलायन की विशेषतायें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। शाकल में समस्तपदों को पृथक् करने के लिए अवग्रह-रूप (ऽ) एक ही रीति है, पर आश्वलायन में यह द्विविध (ऽ,२) तथा शाङ्खायन में त्रिविध (ऽ,२,०) है।

१. इव को समस्तपद से पृथक् करने में शाङ्खायन की दोनों ही शाखाओं के साथ समानता है। यथा -
पिताऽइव । १.१.९; । उस्राःऽइव। १.३.८। सुदुघाम्ऽइव। १-४-१।

२. विसर्गयुक्त पद से द्वितीय पद को पृथक् करने में २ का प्रयोग किया जाता है। यह विधि शाङ्खायन तथा आश्वलायन में समान है। यथा -
पुरःरहितम् १.१.१.। चित्रश्रवः २ तमः १-१-५। अहः २विदः १.२.२. प्रयः २भिः १.२.४। निःरकृतम् १-२-६।

३. जहाँ पर दोनों पद पूर्णतः स्वतन्त्र, पृथक् होते हैं, वहाँ पर शाङ्खायन में दोनों पदों को (०) द्वारा तथा शाकल एवम् आश्वलायन में अवग्रह (ऽ) द्वारा विभक्त किया जाता है। यथा-
रत्न० धातमम् १.१.१ < रत्नऽधातमम्। दिवे० दिवे १.१.३. < दिवेऽदिवे वीरवत्० तमम् १.१.३.। परि० भू १.१.४। कवि० क्रतुः १.१.५। अरम्० कृताः १.२.१। सोम० पीतये १.२.३.। रुद्र० वर्त्तनी १.३.३।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार शाङ्खायनशाखा में यह विधान अधिक सुस्पष्ट, महत्त्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक है ।

ग. मन्त्रसङ्ख्या -

मन्त्रों की सङ्ख्या के सम्बन्ध में इन संहिताओं में परस्पर अधिक वैषम्य पाया जाता है। एक शाखा में जहाँ पर कुछ मन्त्र खिलरूप में पढ़े गये हैं, वे ही मन्त्र अन्यत्र विना खिल-निर्देश के शुद्ध, मूलरूप में गृहीत हैं । कहीं-कहीं पर खिल होने पर भी मन्त्रों की सङ्ख्या तथा क्रम में अन्तर उपलब्ध होता है । मन्त्रों की सङ्ख्या में भेद के कुछ निदर्शन इस प्रकार हैं ;-

१. द्वितीय अष्टक के पञ्चम अध्याय के वर्ग १६ में अर्थात् प्रथम मण्डल की समाप्ति पर ६ शुद्ध मन्त्र तथा १० मन्त्रों का एक खिल शाकलसंहिता में प्राप्त होता है जो शाङ्खायनसंहिता में भी समान है। पर आश्वलायनसंहिता में ६ शुद्ध मन्त्रों के बाद बिना खिल-निर्देश के खिल के ही प्रथम ४ मन्त्रों को शुद्धरूप से पढ़ा गया है । शेष खिल के ६ मन्त्रों का अभाव है । इस प्रकार इस वर्ग में शाकल तथा शाङ्खायन में ६ < १० = १६ मन्त्र तथा आश्वलायन में १० मन्त्र हैं ।

२. द्वितीय अष्टक के सप्तम अध्याय के वर्ग १२ में अर्थात् द्वितीय मण्डल की समाप्ति पर ६ खिलमन्त्र सहित ३ शुद्ध मन्त्र शाकल एवं शाङ्खायन में समान हैं। पर आश्वलायन में इस वर्ग में प्रथम २ ही शुद्ध मन्त्र हैं; तृतीय मन्त्र को खिल मानकर खिलमन्त्रों की सङ्ख्या इसमें ७ है ।

३. चतुर्थ अष्टक के तृतीय अध्याय में तृतीय वर्ग के बाद २ मन्त्रों का परिशिष्ट शाकल एवम् आश्वलायन में समान है। पर शाङ्खायन में इसका अभाव है।

४. चतुर्थ अष्टक के चतुर्थ अध्याय में वर्ग २९ के बाद १ मन्त्र का परिशिष्ट शाकल तथा आश्वलायन में समान है । किन्तु शाङ्खायन में इस मन्त्र को शुद्ध-रूप से पढ़ा गया है ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

५. चतुर्थ अष्टक के चतुर्थ अध्याय में वर्ग ३४ के बाद एक ५ सूक्तों का खिल शाकल तथा शाङ्खायन में प्राप्त होता है, जिसकी 'श्रीसूक्त' नाम से प्रसिद्धि है। परन्तु, आश्वलायन में इन पाँचों सूक्तों को खिल न मानकर शुद्धरूप से पढ़ा गया है और इस प्रकार चतुर्थ अध्याय की वर्ग-सङ्ख्या ४० हो गई है, जबकि शेष दो संहिताओं में वर्ग-सङ्ख्या ३६ ही है। यदि लेखक ने प्रमादवश यहाँ पर खिल लिखने की भूल की है, तब वह अन्य के समान वर्ग-सङ्ख्या ३६ ही देता। कभी-भी वह वर्ग-सङ्ख्या ४० न होती। अतः निश्चयरूप से आश्वलायन इन सूक्तों को खिल नहीं मानता।

६. चतुर्थ अष्टक के अष्टम अध्याय में वर्ग ४ के बाद २ मन्त्रों का एक खिल आश्वलायन में पाया जाता है। शाकल में यह कुछ भिन्न-रूप में है तथा शाङ्खायन में इसकी स्थिति तृतीय अध्याय के वर्ग ३ के बाद है।

७. पञ्चम अष्टक के तृतीय अध्याय में वर्ग २७ के बाद शाङ्खायन में ५ मन्त्रों का एक खिल पाया जाता है, आश्वलायन में खिल का निर्देश न करके इन मन्त्रों को शुद्धरूप में स्वीकार किया गया है तथा शाकल में ये ही मन्त्र वर्ग ३० के बाद कुछ अन्तर के साथ विद्यमान हैं।

८. सप्तम अष्टक के द्वितीय अध्याय में शाकल तथा आश्वलायन संहिताओं में वर्गों की सङ्ख्या ३३ है। इनके विपरीत शाङ्खायन में ३६ वर्ग हैं। वर्ग १८ के बाद एक खिल शाकल एवम् आश्वलायन में समानरूप से प्राप्त है। पर शाङ्खायन में इनकी खिलरूप से गणना नहीं की गई है। फलतः इसमें वर्ग की सङ्ख्या में वृद्धि हो गई है।

९. शाकल, शाङ्खायन तथा आश्वलायन संहिताओं में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भेद सञ्ज्ञानसूक्त का है। शाकल के सभी संस्करणों में यह सञ्ज्ञानसूक्त ४ मन्त्रों का प्राप्त होता है। इस सूक्त की समाप्ति **'यथा वः सुसहासति'** से होती है तथा इसीके साथ शाकलसंहिता के सर्वस्वीकृत पाठ की समाप्ति भी होती है। वैदिक संशोधन-मण्डल, पूना से प्रकाशित ऋग्वेद की शाकलसंहिता के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy. Kathmandu Collection

अन्त में एक परिशिष्टमन्त्रों की तालिका दी गई है । इस परिशिष्ट में इस सर्वमान्य सञ्ज्ञानसूक्त के पश्चात **'सञ्ज्ञानमुशनावदत्'**... से प्रारम्भ कर **'शं चतुष्पदे'** तक १५ मन्त्रों की स्थिति है । चरणव्यूह के अनुसार परिशिष्ट के इन १५ मन्त्रों को बाष्कलसंहिता का मूलभाग माना गया है और इस संहिता की समाप्ति **'शं चतुष्पदे'** से होती है। इस प्रकार बाष्कल में ५३ वर्ग होने चाहिए । जब कि **'सुसहासति'** से समाप्त होने वाली शाकलसंहिता में कुल ४९ ही वर्ग हैं। शाङ्खायन तथा आश्वलायन संहिताओं की स्थिति इन दोनों ही शाखाओं से नितान्त भिन्न है । ७ वर्गों के परिशिष्टसहित ६४ वर्ग पर आश्वलायन-संहिता की समाप्ति होती है तथा ७ वर्गों वाली महानाम्नी ऋचाओं के साथ ६३ वर्ग पर शाङ्खायनसंहिता की समाप्ति होती है । इन दोनों ही संहितओं की समाप्ति **'नूनं तं नव्य'.....विष्णवे महते करोमि"** से होती है।

इस प्रकार मन्त्रों की सङ्ख्या के सम्बन्ध में इन संहिताओं में परस्पर अधिक भेद प्राप्त होता है। उपलब्ध संहितापाठ तथा पदपाठ में अनुरूपता होने के कारण इन शाङ्खायन तथा आश्वलायन संहिताओं के प्रामाण्य में कोई संशय नहीं है।

अतः इन तथ्यों के आधार पर यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि बाष्कल के समान ही शाङ्खायन एवम् आश्वलायन-संहिताओं का अवश्य ही शाकल से भेद है। इनके वास्तविक-स्वरूप पर प्रकाश तो पर्याप्त अध्ययन की अपेक्षा रखता है । इनका समालोचनात्मक अध्ययन अवश्य ही अत्यन्त उपयोगी है एवं वैदिकसाहित्य में एक अभिनव आलोक को प्रदान करने वाला है । इनके अनुशीलन से अनेक रहस्यों के उद्घाटन में सहायता प्राप्त होगी तथा अनुसन्धान के लिए नवीन दिशा और प्रेरणा प्राप्त होगी ।

डॉ. अमलधारी सिंह

धर्मागम विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३ वेदविद्या
जनवरी-जून २०१४ ISSN-2230-8962

विधिवाक्यार्थ एवं विधि के विविध भेद

प्रो. सोमनाथ नेने

मीमांसाशास्त्र के प्रधान लक्ष्य धर्म के स्वरूप एवम् उनके अनुष्ठान की कर्तव्यता का साक्षात् प्रतिपादन जिन वाक्यों के द्वारा किया जाता है, उन्हें विधिवाक्य कहते हैं। वेद में १. विधिवाक्य, २. नामधेयवाक्य, ३. मन्त्रवाक्य, ४. अर्थवादवाक्य तथा ५. निषेधवाक्य - ये पाँच प्रकार के वाक्य माने गए हैं। इनमें विधिवाक्यों द्वारा कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति का प्रतिपादन होने से विधिवाक्य प्रवर्त्तनावाक्य हैं। इन प्रवर्त्तनात्मक विधिवाक्यों द्वारा प्रतिपादित कर्मानुष्ठानात्मक धर्म-रूप अर्थ, अन्य किसी प्रमाण से अगम्य होने से इन्हें अज्ञातार्थ ज्ञापक वेदभाग कहा गया है - **अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः।**

यह विधि, यजमान में अपने प्रतिपाद्य कर्मात्मक धर्म के अनुष्ठान-विषयक प्रवृत्ति, जिस प्रक्रिया के माध्यम से सम्पादित करती है, उस प्रक्रिया को भावना (शाब्दी-भावना) कहते हैं। भावना का स्वरूप, उत्पाद्यमान के उत्पत्ति के जनक, उत्पादयिता के व्यापार-विशेष के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारस्तद्भावना। व्यापार सामान्यम्। यजेत, इस पद में विद्यमान 'त' इस प्रत्यय के विध्यर्थ के बोधक लिङत्व अंश से शाब्दी-भावना तथा आख्यात अंश से आर्थी-भावना का अवबोध माना गया है। ये दोनों भावनाएँ, क्रमशः 'त' इस प्रत्यय के लिङंश तथा आख्यातांश वाच्यार्थ मानी जाती हैं। इनमें इन दोनों को क्रमशः १- साध्य, २- साधन तथा ३- इतिकर्तव्यता, इन तीनों की आकाङ्क्षा मानी गई है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शाब्दीभावना के अंशत्रय

शाब्दीभावना को साध्याकाङ्क्षा होने पर आर्थीभावना को शाब्दीभावना का साध्य माना जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उत्थापित किया गया है कि जिस प्रकार 'त' प्रत्यय से प्रवर्तना के साथ प्रवृत्तिरूपा आर्थीभावना का बोध होने से समानाभिधानश्रुति से आर्थीभावना को शाब्दीभावना का साध्य माना जाता है उसी तरह, इसी प्रत्यय से आर्थीभावना के साथ एकत्व सङ्ख्या, प्रथमपुरुष तथा वर्तमानकाल का भी बोध होने से इनमें से किसी को शाब्दीभावना का साध्य क्यों नहीं माना जाता ? केवल आर्थीभावना को क्यों इस शाब्दीभावना का साध्य माना गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि इनमें शाब्दीभावना का साध्य बनने की योग्यता नहीं है अतः इनकी प्राप्ति समानाभिधानश्रुति से होने पर भी इनमें से किसी को भी शाब्दीभावना का साध्य नहीं माना गया है । इस सन्दर्भ का स्पष्टीकरण यह है कि सङ्ख्या, पुरुष तथा काल, ये सभी सिद्ध पदार्थ हैं इसलिए, ये भाव्य या साध्य नहीं माने जा सकते । प्रवर्त्तना के माध्यम से प्रवृत्ति उत्पक्ष होने पर किसी कार्य को किया जा सकता है परन्तु, कोई भी व्यक्ति, किसी वस्तु की सङ्ख्या को, पुरुष को तथा काल को उत्पन्न नहीं कर सकता । अतः इन्हें साध्य नहीं माना जाता ।

इसीलिए शाब्दीभावना में साध्यविषयक जिज्ञासा होने पर आख्यातांश से वाच्य आर्थीभावना का ही इसमें साध्यत्व-रूप से समन्वय माना जाता है।

शाब्दीभावना को साधनविषयक जिज्ञासा होने पर लिङर्थ का इसमें साधनत्वेन समन्वय होता है। इसी शाब्दीभावना को इतिकर्त्तव्यता-विषयक जिज्ञासा होने पर अर्थवाद-वाक्यों द्वारा प्रकट होने वाले याग विषयक प्राशस्त्यज्ञान का इसमें इतिकर्त्तव्यता के रूप में समन्वय निष्पन्न हो जाता है।

प्रवृत्तिरूप आर्थीभावना प्रतिपादन

यत्न या व्यापार-सामान्य के रूप में अभिमत, प्रत्यय के आख्यातांश से अभिहित तथा शाब्दीभावना के भाव्य या साध्य के रूप में अभिमत आर्थीभावना का अर्थसङ्ग्रहकार लौगाक्षिभास्कर के अनुसार 'स्वर्गादि प्रयोजन-रूप फल को प्राप्त करने

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

की इच्छा से यागादि का अनुष्ठान-रूप क्रिया जिसका विषय है, अर्थात् जिसके कारण यजमान यागादि क्रिया का अनुष्ठान करता है, वह (प्रवृत्ति) रूप व्यापार आर्थीभावना है। यह व्यापार प्रयत्न तथा तद्भिन्न भी हो सकता है। आख्यातार्थ के रूप में दोनों दृष्टियों का प्रतिपादन किया गया है।'

आर्थीभावना के अंशत्रय

इस आर्थीभावना के भी साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता-रूप अंशत्रय माने गए हैं। आर्थीभावना को **'किं भावयेत्'** ? मेरा साध्य क्या है ? यह साध्याकाङ्क्षा होने पर स्वर्गादि-फलों की साध्यत्व-रूप से भावना में समन्वय होता है। आर्थीभावना को **'केन भावयेत्'** ? इस प्रकार की साधनाकाङ्क्षा होने पर समान पदोपात्त याग का भावना में साधनत्वेन समन्वय माना जाता है। आर्थीभावना को इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा होने पर प्रयाजादि अङ्गानुष्ठानों की भावना में इतिकर्तव्यता के रूप में समन्विति मानी गई है।

इस प्रकार आर्थीभावना से समन्वित शाब्दीभावना द्वारा प्रकाशित यागकर्म के अनुष्ठान में अपेक्षित प्रवृत्ति की उत्पादिका प्रवर्तना के अववोध में वैदिक वाक्यों के शाब्दबोध की चरितार्थता फलित होती है ।

३. लिङर्थ = शाब्दीभावना की शाब्दबोध में समन्विति

मीमांसादर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य विषय धर्म है । **यजेत,** इस पद में विद्यमान 'त' प्रत्यय के लिङ् अंश से धात्वर्थ याग के कर्तव्यतारूप धर्म का अवबोध होता है । 'त' प्रत्यय के इस लिङ् अंश से होने वाली धर्मानुष्ठानविषयक प्रवृत्ति के उत्पादक इस अंश को शाब्दीभावना कहते हैं। प्रवृत्ति की यह समुत्पादक होने से प्रवर्तना भी कही जाती है । यह शाब्दीभावना 'त' प्रत्यय के लिङ् अंश वाच्यार्थ होने के कारण इसे विध्यर्थ अर्थात् विधि का अर्थ भी कहते हैं। साक्षात् -रूप से धर्म के बोधक **यजेत,** आदि वेद के भाग को विधि कहा गया है । जिस प्रकार लिङ्लकार से विधि का प्रतिपादन माना गया है; उसी प्रकार, लेट, लोट्, तव्य, अनीयर्, आदि प्रत्ययों से भी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस विधि का प्रतिपादन माना गया है। मीमांसादर्शन में इस विधि के या शाब्दीभावना के (१) प्रवर्त्तना तथा (२)इष्टसाधनत्वेन प्रवर्तना,ये दो अर्थ माने गए हैं।

१. प्रवर्त्तनारूप शाब्दीभावना का प्रतिपादन

भट्टसोमेश्वर तथा श्रीगागाभट्ट के अनुसार प्रर्वतना सामान्य, **यजेत,** इस पद में विद्यमान 'त' प्रत्यय के लिङ् अंश से अभिहित शाब्दीभावना का अर्थ है। लिङर्थक प्रत्यय का श्रवण होने पर प्रवर्तना-सामान्य का ही बोध होता है। शब्दनिष्ठप्रवर्त्तना, अर्थात् प्रवृत्ति की उत्पादिका प्रेरणारूप अभिधा ही शाब्दीभावना-रूप विध्यर्थ है।

२. इष्टसाधनत्वेन - प्रवर्तना - शाब्दीभावना का प्रतिपादन

आचार्य पार्थसारथि मिश्र के अनुसार यद्यपि प्रवर्तना-सामान्य-विध्यर्थ है तथापि, विधि शब्द के वाच्यभूत प्रवर्त्तना-सामान्य के किसी प्रवर्त्तना-विशेष में विना पर्यवसान के प्रेरणा से प्रवृत्ति की निष्पत्ति नहीं होगी अतः वह प्रेरणा विशेष क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर इष्टसाधनताज्ञान या समीहितसाधनता की ही उपस्थिति होने से समीहितसाधनता ही प्रवर्त्तना के रूप में विध्यर्थ है। यह समीहितसाधनता ही प्रवर्त्तना के रूप में लिङ्प्रत्यय द्वारा अभिहित होती है अतः शाब्दीभावना कही जाती है।

मीमांसाभिमत आख्यातार्थ

मीमांसादर्शन में आख्यात के अर्थ के रूप में आर्थीभावना को माना गया है। यह आख्यातार्थ-रूपिणी आर्थीभावना (१) यत्न-रूप में तथा (२) व्यापार-रूप में मानी गई है ।

१. यत्न-रूप मत

इस विषय में प्रयत्न को आख्यातार्थ मानने वाले भट्टसोमेश्वरादि आचार्यों का कहना है कि आख्यात का अर्थ-प्रयत्न इसलिए भी समझा जाना चाहिए ; **करोति** का अर्थ-प्रयत्न होता है तथा आख्यात के साथ इस **करोति** का सामानाधिकरण्य देखा जाता है । अर्थात् जहाँ भी आख्यात होता है वहाँ **करोति** भी अवश्य होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उदाहरणार्थ यदि देवदत्त प्रयत्नपूर्वक गमन करता है तो ऐसे देवदत्त के लिए **'देवदत्तः गमनं करोति'** ऐसा कहा जाता है । यदि देवदत्त का शरीर हवा से या वात से हिलता है तो ऐसी स्थिति में कहा जाता है कि **'देवदत्तः न करोति किन्तु वातादिना अस्य स्पन्दः जायते।'** अतः आख्यात में **करोति** के सामानाधिकरण्य से भी यही सिद्ध होता है कि स्वर्ग की इच्छा से उत्पन्न यागविषयक प्रयत्न ही आर्थीभावना-रूप आख्यातार्थ है। व्याख्याकार भट्टसोमेश्वर अपनी तन्त्रवार्तिक की न्यायसुधा-व्याख्या में इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'प्रयत्न से अतिरिक्त आर्थीभावना आख्यात का वाच्य अर्थ नहीं कही जा सकती, इसी निर्णय के साथ प्रस्तुत विषय पर विवेचन से विराम ले रहे हैं ;-

प्रयत्नव्यतिरिक्तार्थी भावना तु न शक्यते ।
वक्तुमाख्यातवाच्येह प्रस्तुतस्तूपरम्यते ।

न्यायसुधा, उद्धृत-मीमांसान्यायप्रकाश, पृष्ठ ३८२, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन् २००२

२. व्यापार-रूप मत

उक्त यत्न को आख्यातार्थ मानने के सिद्धान्त के विरुद्ध आचार्य पार्थसारथि मिश्र व्यापारसामान्य को आख्यातार्थ = आर्थीभावना मानते हैं । इनके मत में आख्यातार्थ आर्थीभावना को व्यापारसामान्य-रूप मानने पर **'रथो गच्छति'** जैसे स्थलों में भी व्यापाररूप अर्थ की सङ्गति हो जाने से लक्षणा नहीं माननी पड़ती है, अतः इस पक्ष में लाघव भी है । सामान्य व्यापार-रूप अर्थ का बोध हो जाने के बाद विशेषव्यापारविषयक जिज्ञासा के समाधान के रूप में व्यापारविशेष की प्राप्ति हो जाती है। जैसे **यजेत** इस वाक्य से स्वर्गजनक यागरूप व्यापार सामान्य की प्राप्ति हो जाने पर अग्न्यन्वाधान से लेकर ब्राह्मणतर्पण पर्यन्त विशेष व्यापार की भी प्राप्ति हो जाती है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गागाभट्ट का समन्वयवादी दृष्टिकोण

भाट्टचिन्तामणिकार के अनुसार व्यापार समान्य या यत्न, ये दोनों ही आख्यातार्थ के रूप में अभिमत हैं अतः इनके मत में व्यापार या यत्नरूप भावना ही आख्यातार्थ है।

लिङर्थ (विध्यर्थ) विचार

३५- भगवान् पाणिनि के मत में १-विधि, २-निमन्त्रण, ३-आमन्त्रण, ४-अधीष्ट, ५-सम्प्रश्न तथा ६- प्रार्थना, ये छह लिङर्थ माने गए हैं ।

३६- इन चारों में प्रवर्तनात्व, सम्प्रश्न तथा प्रार्थना, ये चार वाक्यपदीयकार द्वारा विध्यर्थ माने गए हैं ।

३७- नवीन वैयाकरण इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ कहते हैं।

३८- इष्टसाधनत्व, बलवदनिष्टाननुबन्धित्व तथा कृतिसाध्यत्व में प्राचीन नैयायिक एक ही शक्ति मानते हैं।

३९- नवीन नैयायिक अलग-अलग शक्ति स्वीकार करते हैं।

४०- रत्नकोषकार के मत में कृतिसाध्यत्व लिङर्थ है।

४१- उदयनाचार्य के मत में लिङ्घटित वाक्य के उच्चारयिता का मैं इसको प्रवृत्त करा रहा हूँ, यह अभिप्रायविशेष लिङर्थ है । यह अभिप्राय लोकवेद में साधारण है ।

४२- श्रीभाष्यकार एवम् उनके अनुयायी भगवदाज्ञा को लिङर्थ मानते हैं।

४३- सुरेश्वराचार्य तथा चित्सुखाचार्य इष्टसाधनत्व को ही लिङर्थ मानते हैं।

४४- वाचस्पति मिश्र के मत में इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व, दोनों लिङर्थ हैं।

४५- मीमांसक मण्डनमिश्र इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ मानते हैं।

४६- कतिपय भाट्टसम्प्रदाय वाले धात्वर्थगत कार्यत्व को विध्यर्थ मानते हैं।

४७- भाट्टों में कतिपय लिङ् आदि शब्दों में अर्थप्रकाशनसमर्थ अभिधाव्यापार को लिङर्थ मानते हैं।

४८- पार्थसारथिमिश्र प्रवर्तना के रूप में इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ मानते हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

४९- भट्टसोमेश्वर एवं खण्डदेव इष्टसाधनत्व आदि से अतिरिक्त प्रवर्तना नामक अलौकिक धर्मविशेष को लिङर्थ कहते हैं।

५०- प्रभाकर अपूर्व कार्य को नियोग कहते हैं। यही इनके मत में विध्यर्थ है।

मण्डनमिश्राभिमत विध्यर्थ -

लिङ्लकार से अभिधाशक्ति द्वारा अभिव्यक्त लिङर्थ या विध्यर्थ के सम्बन्ध में आचार्यमण्डनमिश्र का कहना है कि नैयायिकों द्वारा अभिमत इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व, इन तीन विध्यर्थों में कृतिसाध्यता-ज्ञान की लोकव्यवहार द्वारा प्राप्ति हो जाने से तथा अनन्यलभ्य ही शब्दार्थ के रूप में मान्य होने के कारण इस कृतिसाध्यता-ज्ञान को लिङर्थ नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान की अनिष्ट के अभाव के ज्ञान की उत्पत्ति में कारणता होने के कारण प्रवृत्ति के प्रति यह अन्यथासिद्ध हो जाता है। अतः इसे भी प्रवृत्ति के कारण के रूप में अभिमत विध्यर्थ नहीं माना जा सकता । इस प्रकार, उक्त तीनों में से केवल इष्टसाधनत्वज्ञान ही मण्डनमिश्र के मत में विध्यर्थ या लिङर्थ के रूप में अभिमत है -

मण्डनस्तु यागादौ कृतिसाध्यताज्ञानस्य लोकत एव सिद्धेरनन्यलभ्यत्वान्न तत्र लिङः शक्तिः बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानं च द्वेषाभावजननेनान्यथासिद्धत्वान्न प्रवृत्तौ हेतुः ।

मण्डनमिश्र भी भाट्टमतावलम्बी मीमांसक होने के कारण अन्य भाट्टमतावलम्बी मीमांसकों के समान प्रवर्तना को विध्यर्थ स्वीकार करते हैं, तथापि अन्य भाट्टमतावलम्बी मीमांसकों ने जहाँ प्रवर्तनात्व-रूप से प्रवर्तना को विध्यर्थ माना है, वहाँ ये प्रवर्तनात्व-रूप से इष्टसाधनताज्ञान को विध्यर्थ मानते हैं ;-

प्रवर्तनात्वं च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकम् । तच्चेष्टसाधनत्वमेव। इति तदेव लिङर्थः ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रभाकराभिमत विध्यर्थ

गुरु, प्रभाकर, कार्यताज्ञान को विध्यर्थ मानते हैं। इनके अनुसार प्रवृत्ति में उद्यत पुरुष में विशेषणवत्ता के ज्ञान से उत्पन्न कार्यताज्ञान, कृतिसाध्यताज्ञानविषयक कार्य को विषय करने वाली कार्यसम्पादिका चिकीर्षा के माध्यम से प्रवृत्ति में कारण होने से विध्यर्थ है ;-

अत्र गुरवः स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यकार्यताज्ञानस्यैव चिकीर्षाद्वारा प्रवृतिहेतुत्वम् ।

गुरु प्रभाकर-सम्मत यह कार्यताज्ञान भी **'मया इदं कर्तुं शक्यते'** तथा **'मम इदमवश्यमेव करणीयम्'**, इस प्रतीति के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम ज्ञान, कृतिसाध्यतामात्र का बोधक होने से प्रवृत्ति में कारणभूत विध्यर्थ नहीं माना गया है । द्वितीय ज्ञान चूँकि इष्टसाधनत्वज्ञान तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान से उत्पन्न होता है । अतः यह द्वितीय प्रकार का कार्यताज्ञान ही गुरुमत में विध्यर्थ माना गया है। गुरु प्रभाकर के मत में यागजन्य अपूर्व ही कार्य माना गया है । **'गामानय'** इत्यादि लौकिक वाक्यों में जहाँ लिङर्थक प्रत्यय रहने पर भी अपूर्व-रूप कार्य असम्भव होने के कारण ऐसे स्थलों में लक्षणा द्वारा आनयादि क्रियाओं को अगत्या कार्य मान लिया जाता है ;-

तथाहि कार्यताज्ञानं द्विविधं, मयेदं कर्तु शक्यत इत्येवं रूपमेकं, ममेदमवश्यं कार्यमित्येवं रूपं द्वितीयम् । तत्राद्यं पदार्थनिष्ठयोग्यतागम्यमिति न प्रवृत्तिहेतुः । द्वितीयं तु स्वेष्टसाधनत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानजन्यमिति चिकीर्षाद्वारा प्रवृत्तिं प्रति हेतुः ।

भाट्टमतानुरूप विध्यर्थ शाब्दीभावनानिरूपण

सिद्धान्ती भाट्टमीमांसक प्रवृत्ति की उत्पादिका अभिधाव्यापाररूपिणी शब्दनिष्ठा प्रेरणात्मिका शाब्दीभावना को लिङर्थ या विध्यर्थ निरूपित करते हैं ;-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'अभिधैव शब्दनिष्ठा प्रवर्तनारूपः विध्यर्थः'।

आख्यातार्थ-प्रवृत्तिरूपा आर्थीभावना, इस शब्दभावना का कार्य या साध्य होने के कारण इसके साथ साध्यत्व-रूप से समन्वित होती है। इसी कारण लिङन्तर वाक्यों में मात्र प्रवृत्तिरूप आख्यातार्थ, आर्थीभावना का ही बोध होता है - जैसे 'देवदत्तः गामानयति' यहाँ पर प्रत्यय 'ति' में केवल आख्यातार्थ कृति, यत्न या प्रवृत्ति ही विद्यमान है, इसलिए इस वाक्य का 'देवदत्तकर्तृका गोनिष्ठकर्मतानिरूपिका आनयनानुकूला कृत्यपरपर्याया आर्थीभावना', इस प्रकार का प्रवृत्तिरूपा आर्थीभावना मात्र को प्रकाशित करने वाला शाब्दबोध अभिव्यक्त होता है । इसके विपरीत कर्तव्यता के प्रतिपादक वैदिक वाक्यों में लिङ्त्यय विद्यमान रहने के कारण आख्यातार्थ के साथ लिङर्थ भी विद्यमान रहता है, इसलिए 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः ।' इस जैसे वाक्य का 'यजमानकर्तृका स्वर्गसाध्यिका दर्शपूर्ण-मासयागकरणिका आर्थीभावनानुकूला शाब्दीभावनात्मिका प्रवर्त्तना' ऐसा प्रवृत्त्युत्पादक प्रवर्तनाविषेष्यक शाब्दबोध निष्पक्ष हो जाता है। भाट्टमत में वैदिक वाक्यों में विद्यमान प्रवर्तना या शाब्दीभावना का अवबोध कराना ही सम्पूर्ण वैदिक तात्पर्यावधारण की प्रक्रिया का एकमात्र लक्ष्य है।

भाट्टमतानुरूप विध्यर्थ शाब्दीभावनानिरूपण

५५- इष्टसाधनत्व विध्यर्थ नहीं है। पर्यायत्वापत्ति । 'सन्ध्योपासनं ते इष्टसाधनम्'।

५६- विध्यर्थ व्यापारविशेष है। इसीके प्रेरणा,प्रवर्तना तथा शाब्दीभावना,आदि नाम हैं

५७- पार्थसारथि मिश्र विध्यर्थ-प्रवर्तना सामान्य, विशेष समीहितसाधनता है।

५८- 'सन्ध्योपासनं ते इष्टसाधनम्, तत्त्वं कुरु' यहाँ पर कुरु, यह सामान्य विध्यर्थ तथा इष्टसाधन विशेष विध्यर्थ है।

४- लिङर्थ-प्रवर्तनामुख्यविशेष्यक शाब्दबोध

मीमांसादर्शन में वैदिक वाक्यों के अन्तर्गत विधायक वाक्यों का सर्वाधिक प्रामाण्य माना गया है। विधिवाक्यों के अतिरिक्त जितने भी मन्त्र, नामधेयादि हैं, उनका किसी न किसी रूप से विधिवाक्यों के साथ अन्वित होने से ही प्रामाण्य माना

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गया है । विधिवाक्य, लिङ्लकारघटित होने से शाब्दबोध में इन विधिवाक्यों का प्रामाण्य सर्वोपरि माना गया है। **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'** इत्यादि स्थलों में **यजेत**, यहाँ पर यज् धातु से लिङ्लकार-घटित 'त' प्रत्यय में आख्यातत्व तथा लिङत्व, ये दो तत्त्व विद्यमान हैं। इनमें आख्यातत्व सभी लकारों में विद्यमान रहता है तथा अपने अंश से कृति या यत्नरूप प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता है। लिङ्लकार या लिङर्थक प्रत्ययों का अर्थ, प्रवर्तना माना गया है। वैदिक वाक्य, शब्दस्वरूप होने के कारण वैदिक वाक्यों में विद्यमान यह प्रवर्तना शाब्दीभावना कही जाती है। प्रत्ययनिष्ठ इन आख्यातत्व तथा लिङत्व धर्मों में आख्यातत्व धर्म, सभी लकारों में समान-रूप से विद्यमान रहता है तथा यत्न या कृतिरूप-प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता है। लिङ्लकार या लिङर्थक प्रत्ययों का अर्थ, प्रवर्त्तना माना गया है । इस प्रवर्त्तना को आख्यातार्थ = कृति या प्रवृत्ति का उत्पादक माना गया है। यही कारण है कि लिङ् से इतर लकारों से जहाँ प्रवृत्ति मात्र का ही बोध होता है, वहाँ लिङर्थक प्रत्ययों से प्रवृत्ति तथा प्रवर्तना, इन दोनों का बोध होता है। लिङ्लकार या लिङर्थक विधि-प्रत्ययों का यही वैशिष्ट्य है।

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते ।। तन्त्रवार्तिक १/३/४

१- अपूर्वविधि

तन्त्रवार्त्तिककार कुमारिलभट्ट के अनुसार तीनों विधियों में अत्यन्त अप्राप्त विषय का प्रापक वेदवाक्य अपूर्वविधिवाक्य है। **व्रीहीन्प्रोक्षति**, यहाँ पर अत्यन्त अप्राप्त प्रोक्षण की इस विधि द्वारा प्राप्ति हो जाने से यह वाक्य, अपूर्वविधिवाक्य है।

२- नियमविधि

पक्षप्राप्ति में अप्राप्त अंश का पूरण जिसका फल है, अर्थात् विकल्प से प्राप्त होने वाले उभय पदार्थों में से एक की अप्राप्ति की दशा में उसी की प्राप्ति का विधान जिस विधि के द्वारा किया जाता है उसे, नियमविधि कहते हैं। **व्रीहीनवहन्ति**, यह

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नियमविधि है। यहाँ पर विद्यमान व्रीही (चावल), पुरोडाश के माध्यम से याग का द्रव्यरूप साधन है। इस व्रीही की निष्पत्ति के लिए उसके तुषविमोचन की आवश्यकता है। यह तुषविमोचन १- अवघात तथा २- नखविदलन, इन दोनों साधनों में एक पक्ष में अवघात प्राप्त होता है। विकल्प में जब तुषविमोचनार्थ नखविदलन की प्राप्ति होने लगती है; उस समय, **व्रीहीनवहन्ति**, इस विधि से पक्ष में अप्राप्त अवघात की नियमतः प्राप्ति हो जाती है। पक्ष में अवघात की प्राप्ति होने पर तो कोई समस्या ही नहीं रहती, लेकिन दूसरे पक्ष में नखविदलन की प्राप्ति होने लगने की दशा में **व्रीहीनवहन्ति** यह विधि पाक्षिक अप्राप्त अवघात की प्रापक हो जाने के कारण अप्राप्तांश की पूरकविधि, नियतविधि कही जाती है।

३- परिसङ्ख्याविधि

एक प्रधान में दो अङ्गों की नियतरूप से प्राप्ति होने पर या एक अङ्ग के साथ दो प्रधानों के सम्बन्ध की प्राप्ति होने पर दोनों (अङ्गों या प्रधानों) में से एक की निवृत्ति कराना ही परिसङ्ख्याविधि है।

१- अङ्गपरिसङ्ख्या

दर्शपूर्णमासयाग के विकृतियाग गृहमेधी-इष्टि में इष्टिरूप प्रधान के साथ दर्शपूर्णमास-याग से **'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या'**, इस अतिदेश से दर्शपूर्णमास-याग के अङ्ग तथा **'आज्यभागी यजति'**, इस वाक्य से आज्यभागरूपी अङ्गों की प्राप्ति होने पर **'आज्यभागौ यजति'**, इस विधिवाक्य से आज्यभाग से अतिरिक्त अङ्गों की निवृत्ति हो जाती है।

२. अङ्गीपरिसङ्ख्या -

अङ्गपरिसङ्ख्या के समान एक अङ्ग के साथ एकाधिक अङ्गियों की प्राप्ति होने पर एकातिरिक्त सबकी निवृत्ति हो जाने को अङ्गीपरिसङ्ख्या (शेषीपरिसङ्ख्या) कहते हैं। **'इमाम गृभ्णन् रशनामृतस्येश्वाभिधानीमादत्ते'** इस मन्त्ररूपी अङ्ग के साथ दो प्रधानों १. अश्वरशना तथा २. गर्दभरशना में से प्रथम अश्वरशना को छोडकर द्वितीय

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गर्दभरशना की निवृत्ति हो जाती है । परिसङ्ख्याविधि के अङ्गपरिसङ्ख्या का लौकिक उदाहरण, वाल्मीकिरामायण का दिया जाता है।

पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः ब्रह्मक्षत्रेण राघव ! ।
शल्यकः श्वाविधोगोधाशशःकूर्मश्च पञ्चमः ।।

परिसङ्ख्याविधि निवृत्तिपरक होने से अपूर्वविधि तथा नियमविधि, इन दोनों विधियों से भिन्न है। प्रस्तुत उदाहरण में प्राणियों के भक्षण का विधान नहीं किया गया है अपितु गेंडा, साही, गोह, खरगोश तथा कछुआ, इन पाँच पञ्च नखों वाले पाँच प्राणियों के अतिरिक्त चाहे पाँच नखों वाले हों या बिना पाँच नखों वाले हों, सभी प्राणियों के भक्षण से निवृत्ति का अववोध कराना ही इस रामायणीय परिसङ्ख्याविधि का उद्देश्य है।

इसी उद्देश्य से राम द्वारा छिपकर मारे जाने पर वाली श्रीराम से मारे जाने का कारण पूछता है ;-

चर्म चास्थि च मे राम न स्पृशन्ति मनीषिणः ।
अभक्ष्याणि च मांसानि सोऽहं पञ्चनखो हतः ।।

परिसङ्ख्याविधि के भेद

उक्त विवेचन के आधार पर विद्वानों ने परिसङ्ख्याविधि के श्रौतीपरिसङ्ख्या तथा आर्थीपरिसङ्ख्या, ये दो भेद प्रतिपादित किए हैं। इनमें इतरनिवृत्तिवाचक 'एव' पद जहाँ पर विद्यमान है वहाँ, श्रौतीपरिसङ्ख्याविधि स्वीकार की है। **'अत्र ह्येवावपन्ति'**, यहाँ पर 'एव' के द्वारा पवमान के अतिरिक्त स्तोत्रों की व्यावृत्ति प्रतिपादित की गई है। **'पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः'** इसे आर्थी या लाक्षणिकी परिसङ्ख्याविधि माना गया है । यहाँ पर बिना 'एव' पद के ही पञ्च नखों से युक्त पञ्चनख प्राणियों के भक्षण से निवृत्ति का प्रतिपादन किया गया है।

आर्थी परिसङ्ख्याविधि के त्रिविधदोष

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आर्थी या लाक्षणिकी परिसङ्ख्याविधि के १- श्रुतहानि, २- अश्रुतकल्पना तथा ३- प्राप्तवाध, ये तीन दोष माने गए हैं।

१- **श्रुतहानि-** श्रुत पञ्च नख प्राणियों के भक्षण से निवृत्ति का प्रतिपादन होने से इसमें श्रुतहानि, दोष विद्यमान है।

२- **अश्रुतकल्पना-** पञ्च नख वाले पञ्च प्राणियों के भक्षण से जिस निवृत्ति का विधि द्वारा विधान किया जा रहा है वह, वाक्य में श्रुत नहीं है। इस प्रकार, यहाँ पर अश्रुतकल्पनादोष भी विद्यमान है।

३- **प्राप्तबाध-** जिन पञ्च नख प्राणियों से इतर सभी प्राणियों का भक्षण, रागतः प्राप्त था उसका बाध हो जाने से प्राप्तवाध दोष भी विद्यमान है।

विधि के त्रिविध भेद

अज्ञातार्थज्ञापक विधि के उत्पत्तिविधि, गुणविधि तथा विशिष्टविधि, ये तीन भेद माने गए हैं। इनमें **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इत्यादि अग्निहोत्रादि कर्मों के स्वरूपमात्र के बोधक विधि को उत्पत्तिविधि, प्राप्त अग्निहोत्रादि के उद्देश्य से **'दध्ना जुहोति'** जैसे दधि, इत्यादि द्रव्य-रूप अङ्गभूत गुणों की विधायक विधि को गुणविधि तथा जहाँ पर होम तथा गुण दोनों अप्राप्त रहने से होम तथा गुण दोनों का विधान माना जाता है वहाँ पर विशिष्ट विधि मानी जाती है। **'सोमेन यजेत'** यहाँ पर सोमगुण से विशिष्ट याग का विधान होने से इसे विशिष्टविधि माना जाता है।

विधि के चतुर्विध भेद

विधिभेद के अन्तर्गत विधिवाक्यों के १-उत्पत्तिविधि, २-विनियोगविधि, ३-प्रयोगविधि तथा ४-अधिकारविधि, ये विधि के सर्वाधिक चर्चित चार भेद माने गए हैं।

१. उत्पत्तिविधि

कर्म के स्वरूप मात्र की बोधक विधि को उत्पत्तिविधि कहते हैं। **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'** तथा **'अग्निहोत्रं जुहोति'**, जैसे वाक्यों द्वारा कर्म, याग के स्वरूपमात्र का बोध होने से ये वाक्य उत्पत्तिविधि वाक्य हैं।

२- विनियोगविधि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्ग तथा प्रधान के सम्बन्ध का बोध कराने वाली विधि को विनियोगविधि कहते हैं। यह विधि १- श्रुति, २- लिङ्ग, ३- वाक्य, ४- प्रकरण, ५- स्थान तथा ६- समाख्या, इन छह अङ्गाङ्गिभावबोधक प्रमाणों की सहायता से अङ्गप्रधान के अङ्गाङ्गिभाव का बोध कराती है। इन प्रमाणों में भी श्रुति-प्रमाण के सर्वप्रथम १. विधात्री, २. अभिधात्री तथा ३. विनियोक्त्री, ये तीन भेद प्रतिपादित किए गए हैं। श्रुति-प्रमाण के इन भेदों में भी तृतीय विनियोक्त्री श्रुति के न्यायरत्नमाला में १.विभक्तिरूपा, २. समानाभिधानरूपा तथा ३. एकपदरूपा, ये तीन भेद प्रतिपादित किए गए हैं। विभक्तिरूपा विनियोक्त्रीविधि के द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

द्वितीयाविभक्तिरूपा विनियोक्त्री विधि -

व्रीहीन्प्रोक्षति। इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येश्वाभिधानीमादत्ते।

तृतीयाविभक्तिरूपा विनियोक्त्री विधि - **ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते।**

चतुर्थीविभक्तिरूपा विनियोक्त्री विधि - **सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ। मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति।**

पञ्चमीविभक्तिरूपा विनियोक्त्रीविधि - **अग्नेः तृणान्यपचिनोति।**

षष्ठीविभक्तिरूपा विनियोक्त्रीविधि- **गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्। यजमानस्य याज्या।**

सप्तमीविभक्तिरूपा विनियोक्त्रीविधि - **यदाहवनीये जुहोति।**

३. प्रयोगविधि

यागानुष्ठान के शीघ्रता के अर्थात् साहित्य के बोधक विधिवाक्य प्रयोगविधिवाक्य हैं। यह प्रयोगविधि अपने छह सहायक प्रमाणों के माध्यम से प्रयोग के प्राशुभाव (साहित्य) का प्रतिपादन करती है। १- श्रुति, २- अर्थ, ३- पाठ, ४- स्थान, ५- मुख्य तथा ६- प्रवृत्ति, ये छह प्रयोगविधि के क्रमावबोधक प्रमाण माने गए हैं।

४. अधिकारविधि

यागजन्य फलस्वामित्व के बोधक विधिवाक्य अधिकारविधिवाक्य हैं। **'यस्याहिताग्नेरग्निगृहान्दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टादशकपालं निर्वपेत्'** इस वाक्य से

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गृहदाह-निमित्त जिस अग्निहोत्री का उत्पन्न हो गया है उसे इस नैमित्तिक-कर्म का अधिकारी माना गया है। कर्म में अधिकार का निर्णय पुरुष के विशेषण के रूपों में श्रुत-विशेषणों से अधिकार का निर्णय किया जाता है। इसीलिए स्वर्गकाम-विशेषण के होने पर भी **'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत्'** इस विधिवाक्य द्वारा श्रुत याग में केवल राजन्य-जाति से युक्त स्वाराज्यकाम का ही अधिकार माना जाता है। ये १- अध्ययनविधिसिद्ध विद्या, २- आधानसिद्धाग्निमत्ता तथा ३- सामर्थ्य को भी, ये न सुने जाने पर भी यागाधिकार का निर्णायक माना जाता है । इन्हीं तीन के कारण शूद्रों को सर्वसाधारण-रूप से यागाधिकार नहीं दिया गया है। स्त्रियों को **'पाणिग्रहणात्तु सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु'** इस वचन से पति-यजमान के साथ यागाधिकार प्रदान किया गया है।

विधि के पुरुषार्थ तथा क्रत्वर्थ की दृष्टि से भेद

मीमांसाबालप्रकाशकार श्रीशङ्करभट्ट ने विधि के पुरुषार्थ तथा क्रत्वर्थ की दृष्टि से विधि के दो भेद प्रदर्शित किए हैं। **'समिधो यजति, बर्हिर्यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति तथा स्वाहाकारं यजति'**, इनके अनुष्ठान से दर्शपूर्णमासयाग की निष्पत्ति मानी गई है, इसलिए ये पाँच विधियाँ क्रत्वर्थ विधियाँ हैं।

'अग्निहोत्रं जुहोति', 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' जैसे विधिवाक्यों के द्वारा यजमान-रूप पुरुष के लिए स्वर्गादि फलों के ये विधिवाक्य प्रापक होने से इन्हें पुरुषार्थ-विधि माना गया है । इसके विपरीत १- समिधो यजति, २ इडो यजति, ३- बर्हिर्यजति, ४- तनूनपातं यजति तथा ५- स्वाहाकारं यजति, ये पाँच विधिवाक्यों के द्वारा विहित पञ्च प्रयाज दर्शपूर्णमास-याग के अङ्ग होने से क्रत्वर्थ हैं।

विधि के पदार्थ की दृष्टि से भेद

मीमांसादर्शन के भाट्टमत में १- द्रव्य, २- गुण, ३- कर्म, ४- सामान्य तथा ५- शक्ति, ये पाँच भावात्मक पदार्थ माने गए हैं। इनमें शक्ति, यागजन्य अपूर्व के रूप में यागानुष्ठान में समन्वित हो जाती है । शेष चारों पदार्थों के कर्मसमन्वय को प्रदर्शित

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करने के लिए श्रीशङ्करभट्ट ने इन चारों पदार्थों को १- द्रव्यविधि, २- गुणविधि, ३- क्रियाविधि, ४- सामान्य या जातिविधि के रूप में प्रदर्शित किया है।

१. द्रव्यविधि

'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' यहाँ पर विधिवाक्य में विद्यमान गोदोहन शब्द, यौगिक होने से द्रव्यरूप अर्थ का वाचक है । अतः यह द्रव्यविधि है।

२. गुणविधि

'यदि कामयेत वर्षुकः पर्जन्यः स्यान्नीचः सदोमिनुयात्' । यहाँ पर नीच शब्द, गुण का प्रकाशक होने से इसे गुणापूर्वविधि माना गया है। **'अरुणया पिङ्गाक्षैकहायन्या सोमं क्रीणाति'** । यहाँ पर भी गुण आरुण्य का क्रयणभावना में समन्वय प्रतिपादित किया गया है।

३. क्रियाविधि

'अग्निहोत्रं जुहोति', यहाँ पर यागरूप क्रिया फलापूर्व के लिए प्रतिपादित है, अतः यह क्रियापूर्व या क्रियाविधि का उदाहरण है। इसी प्रकार, **'व्रीहीन्प्रोक्षति'**, यहाँ पर प्रोक्षणक्रिया का यागार्थ व्रीही में समन्वय प्रतिपादित होने से यह भी क्रियाविधि का उदाहरण है।

४. सामान्य या जातिविधि

'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत', इस विधिवाक्य में वीर्यकामनावान् व्यक्ति के यज्ञ के लिए खदिर-काष्ठ (खैर की लकड़ी) के यूप का विधान किया गया है। खदिर, जाति होने से यह, जात्यापूर्व या जातिविधि का उदाहरण है।

प्रो. सोमनाथ नेने
आचार्य, संस्कृत-विभाग, कलासङ्काय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३ वेदविद्या
जनवरी-जून २०१४ ISSN-2230-8962

वैदिकसाहित्य का जातककथाओं पर प्रभाव

शारदा गौतम

"भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति" इस भारतीय-मान्यता के अनुसार वेद समस्त विद्याओं का मूल है। यह भारतीय-संस्कृति, धर्म और दर्शन की आधारभूमि है। यह वह अक्षय स्रोत है जिससे नाना प्रकार की धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक और सामाजिक धाराएँ प्रवाहित होकर जगत् को सिञ्चित करती रही हैं। चिन्तकों ने वेदों से अपने-अपने मतानुकूल विचारों को ग्रहण कर अपने सिद्धान्तों का विकास किया । बौद्धों ने भी वैदिक-साहित्य से पर्याप्त विचारों को ग्रहण कर अपने सिद्धान्तों को स्थापित किया। यद्यपि बौद्धधर्म वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड के विरोध में ही उभरकर सामने आया फिर भी उनके साहित्य पर वैदिकसाहित्य का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

जातकत्रिपिटक के सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय का दसवाँ ग्रन्थ है। इसमें भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की ५४७ कथाएँ हैं। पूर्वजन्म की इन कथाओं के माध्यम से भगवान् बुद्ध ने शिष्यों एवं श्रावकों को धर्म एवं सङ्घ का उपदेश दिया । इन कथाओं में कई स्थलों पर बोधिसत्त्व-रूप भगवान् बुद्ध वेद के अध्ययन की ओर प्रवृत्त होते हुए दिखते हैं।[१] अनेक जातककथाओं में वे तीनों वेदों के अध्ययन करने वाले या अध्ययन किये हुए वर्णित हैं।[२] वस्तुतः तत्कालीन समय में ब्रह्मचर्य-आश्रम में तीनों वेदों के अध्ययन का विधान था। जातककथाओं में बोधिसत्त्व सर्वाधिक बार

[१] यदि एवं वेदे उग्गण्हिस्सामी, उद्दालकजातक (४८७)।
[२] दुम्मेधजातक (५०), असातमन्तजातक (६१), भीमसेनजा.तक (८०), सीलवीमंसजातक (८६), नामसिद्धिजातक (९७) आदि।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ब्राह्मणकुल में ही जन्म लेते हैं फिर भी वेदों की कई मान्यताएँ उन्हें स्वीकार नहीं थीं तथा वे वैदिक यज्ञ एवं कर्मकाण्ड की तीव्र आलोचना करते हैं।[१] बोधिसत्त्व मानते हैं कि तीनों वेदों से सभी शङ्काओं का समाधान नहीं होता है[२] फिर भी वेदों के अध्ययन की ओर उनका झुकाव दिखता है। सेतकेतुजातक (२४५) में पुरोहित-रूप बोधिसत्त्व के मुख से ही वेद एवं संयमयुक्त जीवन की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वेद निष्फल नहीं होते, वेदों के अध्ययन से यश एवं कीर्ति की प्राप्ति होती है, संयमयुक्त आचरण ही सत्य है तथा संयमयुक्त आचरण से ही मनुष्य शान्त पद को प्राप्त करता है।[३] सेतकेतु जातक (२४५) में ही कहा गया है कि यदि बहुश्रुत होकर भी कोई पापकर्म और अधर्म का आचरणं करता है तो हजार वेद पढ़ा हुआ भी उस आचरणहीन कर्म से मुक्त नहीं हो सकता है।[४] इस गाथा पर कठोपनिषद् का स्पष्ट प्रभाव, दृष्टिगत होता है जिसमें कहा गया है कि अविद्याग्रस्त अपने को धीर, पण्डित मानने वाले मूढ़ अनर्थ को प्राप्त होते हैं, जैसे अन्धे के साथ जाने वाला अन्धा अनर्थ को प्राप्त करता है।[५]

वैदिकसाहित्य के अनेक देवताओं का जातककथाओं में उसी प्रकार का स्वरूप मिलता है जैसा वेदों में है। वैदिक-देवताओं में इन्द्र सर्वप्रमुख देवता हैं। ऋग्वेद के 250 सूक्तों में इन्द्र का वर्णन है। वेदों में देवताओं के राजा इन्द्र वृत्रहन्ता, वर्षा करने वाले, महान् कार्यों के सम्पादन करने वाले देव के रूप में वर्णित हैं। उसी प्रकार का

---

[१] महासुपिनजातक (७७), लोहकुम्भीजातक (३१४), भूरिदत्तजातक (५४३) आदि।

[२] मूलपरियायजातक (२४५)

[३] न हेव वेद अफला भवन्ति असंयमं चरणञ्मेव सच्चं।
कित्तञ्च पप्पोति अधिच्च वेदे सन्तं पुनेति चरणेन दन्तो॥ सेतकेतुजातक (२४५)।

[४] पापानि कम्मानि करित्व राजा, बहुस्सुतो चे न चरेय्य धम्मं।
सहस्य वेदोपि न पं परिच्च दुक्खा पमुञ्चे चरणं अपत्वाति॥ (सेतकेतुजातक २४५)

[५] अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।। कठोपनिषद् १.२.५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वर्णन इन्द्र देवता का जातककथाओं में भी मिलता है। यहाँ भी इन्द्र देवताओं के राजा[१], धर्म-अधर्म के नियामक,[२] वर्षा कराने वाले देवता[३] के रूप में वर्णित हैं। इन्द्र का प्रमुख कार्य दुष्टों को दण्ड देना और दुःखियों की सहायता करना है। यदि कोई व्यक्ति कठिनाई में पड़ता है तो इन्द्र का आसन गर्म हो जाता है।[४] पुण्यात्माओं के कष्टों का निवारण तथा दुष्टात्माओं को दण्डित करने के लिए वे स्वर्ग से पृथ्वी पर आ जाते हैं।[५] इन्द्र सभी प्राणियों के ईश्वर हैं।[६] ये अकेले ही असुरों को जीत लेते हैं।[७] हैं।[७] इन्द्र देवलोक में निर्मित सुन्दर महल में रहते हैं, इनके महल का नाम सुधर्मा, वैजयन्त तथा मस्सकसार बताया गया है।[८] इन्द्र के सारथि का नाम मातलि है।[९] तथा इन्द्र का रथ वैजयन्त है।[१०] इन्द्र को देवलोक में सुजम्पति तथा मनुष्यलोक में मघवा कहा गया है।[११] इन्द्र-पद इतना महत्त्वपूर्ण था कि लोग उस पद को प्राप्त करने की इच्छा करते थे तथा उसके लिए यज्ञ करते थे। जातककथा में एक व्यक्ति कहता है कि यदि मैं यज्ञ करूँगा तो इन्द्र के समान हो जाऊँगा।[१२]

वैदिक-देवताओं में दूसरे प्रमुख देव अग्नि हैं जिनकी स्तुति भी जातककथाओं में उपलब्ध होती है। वैदिक देवता अग्नि जातवेदाः अर्थात् ज्ञान के आगार हैं। वे यजमानों द्वारा प्रदत्त हवि को देवताओं तक पहुँचाते हैं। उन्हें घी अत्यन्त प्रिय है।

---

[१] उरगजातक (३५४)।
[२] धम्मद्धजातक (२२०), कच्चानिजातक (४१७)
[३] नलिनिकाजातक (५२६)
[४] विसरहजातक (३४०)।
[५] दधिवाहकजातक (१८६)
[६] सक्क सब्ब भूतानां इस्सर कपिजातक (४०४)
[७] एकोव इन्दो असुरो जीनाति । तच्छसूकरजातक (४९२)
[८] विधुरजातक (५४५)
[९] चुल्लधनुग्गहजातक (३७४), विल्लारीकोसीयजातक (४५०), निमिजातक (५४१)
[१०] गुत्तिलजातक (२४३)
[११] अलंबुसजातक (५२३)
[१२] लोककस्सपजातक (४३३)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जातककथाओं में भी अग्निदेवता के घी और खीर प्रिय होने कारण घी और खीर अर्पित करने का वर्णन है।[१] तथा यजमान अग्नि को नमस्कार करते हैं।[२] अग्नि शाश्वत देव के रूप में भी वर्णित हैं। इनके साथ ही पृथ्वी, जल, वायु, सुख-दुःख और जीव को भी शाश्वत कहा गया है।[३]

वैदिक-देवताओं में सूर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सौर-देवताओं में सूर्य सबसे अधिक भासमान एवं सत्ताशाली देवता है। सूर्य-देवता प्रकाशमय तथा स्वर्णिम आभा से युक्त है। सूर्य का रथ हरितवर्ण के सात अश्वों से खींचा जाता है। कल्याण करने वाले सूर्य के तीव्र गति वाले, हरित नाम वाले विचित्र घोड़े हमारे द्वारा नमस्कार किए जाते हुए आकाश के पृष्ठ पर चलते हैं। वे सब स्तुति-भाजन हैं। वे घोड़े शीघ्र ही पृथ्वीलोक, द्युलोक तथा चारों दिशाओं का भ्रमण कर लेते हैं।[४] इसी प्रकार का वर्णन जातककथाओं में भी मिलता है जहाँ उदयकालीन सूर्य को नमस्कार करते हुए कहा गया है कि चक्षुमान् एक राजा जिसका रँग सुनहरा है और जो पृथ्वी को प्रकाशित करता हुआ उदय हो रहा है। मैं इस पृथ्वी को प्रकाशित करने वाले सुवर्ण वर्ण को नमस्कार करता हूँ। आज इसके द्वारा रक्षित होकर दिन में विचरण करूँ।[५] यहाँ सूर्योदय का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार सूर्यास्त का वर्णन भी जातककथाओं में हुआ है। यहाँ कहा गया है कि सर्ववर्णा चक्षुमान् यह एक राजा, जो पृथ्वी को प्रकाशित करता हुआ अस्त हो रहा है, पृथ्वी के प्रकाशक इस स्वर्ण वर्ण को

---

[१] संथवजातक (१६२)।

[२] जातवेंद नमस्सति । महावेस्संतरजातक (५४७)

[३] सत्तिमे सस्सता काया अच्छेज्जा अविकोपिनी। तेजो पठविरापो च वायो सुख दुखञ्चिमे।
जीवे च सन्ति में काया येसं छेत्ता न विज्जति । महानारदजातक (५४४)

[४] भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः ॥ (ऋग्वेद १.११५.३)

[५] उदेतयं चक्खुखा एकराजा, हरिस्सवण्णे पथविप्पभासो। तं तं नमस्सामि हरिस्सवण्णम्,
पथविप्पभास, तयाज्ज गुत्ता विहरेमु दिवस्सति। महावेस्संतरजातक (५४७)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मैं नमस्कार करता हूँ; इसके द्वारा संरक्षित मैं रात भर ससुख रहूँ।[१]

वैदिकदेव पर्जन्य का उल्लेख भी जातककथाओं में हुआ है। पर्जन्य वर्षा कराने वाले मेघ के देवता हैं। जब पर्जन्य अच्छी प्रकार जल-वर्षा कर देते हैं तो सर्वत्र जल ही जल हो जाता है; नदियाँ, तालाब आदि जलों से पूर्ण हो जाती हैं।[२] जातककथाओं में भी इन्द्र पर्जन्य से शीघ्र वर्षा करने के लिये कहते हैं।[३]

वैदिकयुग के आराध्य देवों में ब्रह्म का उल्लेख जातककथाओं में अनेक बार हुआ है। जातककथाओं में उन्हें सभी लोकों का निर्माता कहा गया है।[४] ब्रह्मलोक के स्वामी ब्रह्मा छत्र धारण करते हैं, इन्हें महाब्रह्मा, घटिकार तथा सहम्पति भी कहा गया है।[५] जातककथाओं में खीर से इनका यज्ञ करते हुए दिखाया गया है।[६] वैदिक-वैदिक-देवताओं में काल भी महत्त्वपूर्ण है। जातककथा में इन्हें नमस्कार किया गया है।[७] काल सभी प्राणियों को खाता है, अपने को भी खाता है।[८]

वैदिकसाहित्य के संवाद-सूक्तों का प्रभाव भी जातककथाओं पर दिखता है। यथा ऋग्वेद के यम-यमी संवाद-सूक्त (10-10) से प्रभावित ऐसी कई कथाएँ जातकों में हैं जिसमें सहोदरा भाई-बहन के विवाह-सम्बन्ध वर्णित हैं। यथा- कुणालजातक (536) में शाक्यवंशियों ने अपनी भगिनियों से विवाह किया था। असिलक्खणजातक (126) तथा महावेस्सन्तरजातक (547) के अनुसार काशी व शिवि राज्य के राजकुमारों ने अपनी सहोदरा वहन के साथ विवाह किया था। उदयजातक (458) और

---

[१] अपेतयं चक्खुमा एकराजा, हरिस्सवण्णे पथविप्पभासो। तं तं नमस्सामि हरिस्सवण्णम्, पथविप्पभास, तयाज्ज गुत्ता विहरेमु दिवस्सति। महावेस्संतरजातक (५४७)

[२] महान्तं कोशमुदचा निषिञ्च स्यन्दतां कुल्या विषिताः। (ऋग्वेद : ५.८३.८)

[३] व्स्स बलाहकदेव राजनं पक्कोसा पेत्वा। मच्छजातक (७५)।

[४] महानारदजातक (५४४)।

[५] सरभमिगजातक (४८३)।

[६] संथवजातक (१६२)।

[७] म्हावेस्संतरजातक (५४७)।

[८] कालो घसति भूतानि सब्बानेव सहत्तना। मूलपरियायजातक (२४५) ऋग्वेद : १.१६४.२०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दसरथजातक (461) में भी भाई-बहन के मध्य विवाह का उल्लेख है। मुदुपाणी जातक (262) में एक राजा अपनी पुत्री का विवाह अपने भागिनी-पुत्र के साथ करता है। ऋग्वेद के सरमा-पणि संवाद (10-108) में इन्द्र की कुतिया सरमा पणियों को दान देने का उपदेश देती है। पणियों को उपदेश देने की शैली में ही इल्लीसजातक (78) में इन्द्र कंजूस सेठ को दान देने का उपदेश देते हैं।

ऋग्वेद[१] के एक मन्त्र में समानता रखते हुए वट्टकजातक (394) है जिसमें एक वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों में से एक सुस्वादु सुन्दर फलों को खाता है दूसरा रूखा-सूखा खाकर ही हृष्ट-पुष्ट रहता है। इसी प्रकार ऋग्वेद के (10-105) सूक्त में एक ज्ञानी जन के विलाप का चित्रण है। जिसे यह लग रहा है कि यह संसार एक अन्धे कुएँ के समान अज्ञान अन्धकार से भरा हुआ है। जिसमें दुःखों का कोई पारवार नहीं है। उसे कहीं दूर प्रकाश, ज्ञान और सुख की आशा की एक किरण सी दिखाई पड़ती है। उसे पाने के लिए वह परमेश्वर से प्रार्थना करता है। मनुष्य की असङ्ख्य कामनाएँ होती हैं। उनको पूरा करने के लिए धन कमाता है। घर बनाता है और विवाह करके स्त्री को घर में बसाता है। स्त्री जब अपने पति से मिलती है तो दोनों के मेल से समय आने पर सन्तान की उत्पत्ति होती है। जिससे कुटुम्ब बढ़ता जाता है और अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जो अनेक प्रकार के कष्टों का कारण बनता है। मनुष्य इन समस्याओं में उलझ कर रह जाता है और अपने जीवन के लक्ष्य को भूल बैठता है जिसके कारण बार-बार इस संसाररूपी कुएँ में पड़ता रहता है। ज्ञानी-जन प्रार्थना कर रहा है कि हे देवो ! तुम मेरी इस व्यथा को समझो।[२] इसी से प्रभावित

---

[१] ऋग्वेदः १.१६४.२०

[२] अर्थमिद्वा उ अर्थिन आ जाया युवते पतिं।
तुंजाते वृष्ण्यं पयः परिदाय रसं दुहे वित्तं मे अस्य रोदसी। (ऋग्वेद : १.१०५.२)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनेक जातककथाएँ हैं जिनमें मनुष्य ईश्वर से सांसारिक कष्टों से मुक्ति की प्रार्थना कर रहा है।[१]

उपनिषदों के अनेक आख्यान जातककथाओं में किञ्चित् परिवर्तन के साथ आये हैं। यथा बृहदारण्यक-उपनिषद् 3-i जिसमें विदेह के राजा जनक के बहुदक्षिणा वाले यज्ञ में आए हुए याज्ञवल्क्य, अश्वल एवम् अन्य ब्राह्मणों के प्रश्नों का समाधान करते हैं। इस आख्यान से ही प्रभावित महाजनकजातक है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् 4-4-9 में सत्यकाम जाबाल का गौतम ऋषि के पास जाने का वर्णन है। गौतम के द्वारा गोत्र- सम्बन्धी प्रश्न पूछने पर दासीपुत्र जाबाल अपनी उत्पत्ति के विषय में सत्य वात वताते हैं जिससे प्रभावित होकर गौतम उसे अपना शिष्य स्वीकार कर उपनयन-संस्कार करते हैं। इस आख्यान से प्रभावित पदुमजातक (261) तथा इसका अधिक विस्तृत-रूप वट्टकजातक (41) तथा महासीलवजातक (51) में वर्णित है।

शतपथब्राह्मण 11-4-1-1 में उद्दालक नामक ऋषि ज्ञान-प्राप्ति के लिए उत्तरापथ में भ्रमण करते हुए दिखाये गए हैं। इस कथा से ही प्रभावित उद्दालकजातक है जिसमें उद्दालक के विद्यार्जन हेतु तक्षशिला जाने और वहाँ लोकविश्रुत आचार्य से ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है । सेतुकेतुजातक (377) में उद्दालक के पुत्र सेतकेतु भी कलाओं की शिक्षा के लिए तक्षशिला ही जाते हैं।

वैदिककाल में यज्ञ की प्रधानता थी जिसका प्रभाव जातकों पर भी दिखता है। जातककथाओं में वर्णन है कि लोग उन्नति के लिए यज्ञ करते थे।[२] यज्ञ के लिए हवन कुण्ड बनाए जाते थे। पशुओं को यज्ञस्तूप से बाँधा जाता था। देवलोक जाने की इच्छा से भी यज्ञ किये जाते थे।[३] जातककथाओं में निम्नलिखित यज्ञों का वर्णन है जो वेदोक्त विधि से किये जाते थे। यथा-नवमिय या नौमी का यज्ञ[४], अग्गिहत्तकं

---

[१] कुहकजातक (८१), मितविन्दजातक (१०४)।
[२] सन्थवजातक (१६२)।
[३] खण्डहालजातक (५४२)
[४] महावेस्सन्तरजातक (५४७)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(अग्निहोत्र)[१], सर्वचतुष्क चतुष्पदों का यज्ञ[२], पन्थसकुणंयजिस्समि पथशकुन यज्ञ[३], पसुघात यज्ञय जयेहि (पशुघात-यज्ञ) तथा वाचपेय्य (वाजपेय)[४] आदि नलिनिकाजातक में ऋषिश्रृङ्ग के द्वारा अग्निहोत्र यज्ञ करने का उल्लेख है।

वैदिकयुग में सङ्घ की बहुत महिमा थी। वैदिककालीन लोगों ने सङ्घ-शक्ति के महत्त्व को समझा था। ऋग्वेद के अन्तिम एकता-सूक्त (10-191) में इसकी प्रस्तुति बहुत ही सुन्दर-रूप में हुई है जिसमें 'संगच्छध्वं संवदध्वं०' आदि के द्वारा एकता के महत्त्व को प्रस्तुत किया गया है। इससे प्रभावित जातककथा में वर्णित इस गाथा की प्रस्तुति भी कम प्रभावशाली नहीं है जिसमें कहा गया है की समूह में रहने वाले वृक्ष तूफान में अपनी रक्षा आसानी से कर लेते हैं जबकि अकेला वृक्ष आँधी के थपेड़ों के सामने टिक नहीं पाता है।[५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिकसाहित्य का प्रभाव जातककथा पर अत्यधिक पड़ा है। वेदों के गम्भीर विषयों को भी जातककथा में सहज-सरलरूप से लोकभाषा, लोकगाथा में प्रस्तुत किया गया है। वैदिकसाहित्य का प्रभाव जातककथा पर ही न होकर, किसी न किसी रूप में सम्पूर्ण बौद्धसाहित्य पर पड़ा है जो वेदों की महत्ता को बताता है।

शारदा गौतम
विशिष्ट संस्कृत-अध्ययनकेन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई-दिल्ली

---

[१] खण्डहालजातक (५४२)
[२] अट्ठसद्यजातक (४१८)
[३] महावेस्सन्तरजातक (५४७)
[४] लोमकस्सपजातक (४३३)
[५] साधूसम्वहुला ञाती अपि रूक्खा अरञ्ञाजा।
वातोवहति एकट्ठ ब्रहन्तम्पि वनस्पति।। रूक्खधम्मजातक (७४)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

शब्दोत्पत्ति-विमर्श

प्रचेतस् शास्त्री

भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों में भाषा ही सर्वप्रमुख साधन है। भाषा का अध्ययन जिस रोचकता और गम्भीरता से प्राचीन भारत में किया गया था उसका उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। ऋग्वेद में भाषा (वाक् तत्त्व) की महिमा पर पूरे दो सूक्त (१०/७१ और १०/१२५) हैं। यह वाक्तत्त्व तब तक सुशोभित है जब तक वर्णों का यथातथ शुद्धोच्चारण होता है। वैयाकरणों ने तो शब्द को नित्य,अविनाशी तथा मोक्षप्राप्ति का परम साधन माना है। मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु रहा है। वह जानना चाहता है कि शब्द की उत्पत्ति कैसे होती है ? तथा इसकी क्या प्रक्रिया है ? विश्व की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद में शब्दोत्पत्ति के प्रकार का सङ्केत मिलता है। शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में शब्दोत्पत्ति-प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से व्याकरण तथा आधुनिकविज्ञान की मान्यताओं के विशेष सन्दर्भ में शब्दोत्पत्ति-प्रक्रिया का विवेचन करने का प्रयास शोधार्थी द्वारा किया गया है।

शाब्दिकों के मत में शब्द नित्य है, इसलिये शाब्दिकनय में शब्दोत्पत्ति का तात्पर्य शब्दोपलब्धि माना जाता है।[१] जिस प्रकार जल के दिखायी देने से पूर्व भी भूमि में जल होता ही है और वह खनन कार्य के पश्चात् दिखाई देता है अथवा जिस प्रकार अन्धकार में पहले से ही विद्यमान घट दीप के द्वारा प्रकाशित किये जाने पर उपलब्ध होता है, ठीक उसी प्रकार अतिसूक्ष्म वाक् के रूप में पहले से ही विद्यमान अन्तःस्थित नाद, कण्ठ, तालु आदि उच्चारण-स्थानों पर आवश्यकता के अनुसार किये गये अभिघात से वर्णत्व

---

१ एके वर्णाञ्छाश्वतिकान् न कार्यान्।–ऋक्प्रातिशाख्य १३/१४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy. Kathmandu Collection

को प्राप्त होता हुआ शब्द कहलाता है। आचार्य आपिशलि ने इस प्रक्रिया को सूत्र-रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है ;-

आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥[१]

अर्थात् आकाश तथा वायु के प्रभाव से नाद नामक वायु शरीर से मुख तक आती है। यही मुख के विभिन्न स्थानों में विभक्त होकर वर्ण के रूप में बदल जाती है। इसे ही शब्द कहते हैं। "यहाँ आकाश का तात्पर्य नाभिप्रदेश में वायु के अथवा अवयवों के सञ्चरणार्थ विद्यमान अवकाश-रूप आकाश समझना चाहिये। किन्ही आचार्यों का मत है कि नाभि के नीचे ब्रह्मग्रन्थि नामक स्थान विद्यमान है,जिसे आकाश कहते हैं। वायु शब्द से यहाँ व्यान तथा उदानसञ्ज्ञक वायुओं का ग्रहण करना चाहिये।"[२]

इसकी व्याख्या करते हुये वाक्यपदीयकार कहते हैं कि वक्ता की इच्छा के अनुरूप प्रयत्न के द्वारा अन्दर की सक्रिय वायु इकट्ठी होकर ऊपर की ओर भागती है। यह कण्ठ, तालु आदि स्थानों से टकराकर अभिघात नामक संयोग करती है। इस प्रक्रिया में यह वायु शब्द-रूप में बदल जाती है।

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्त्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते॥[३]

यहाँ टीकाकारों ने उदाहरण देते हुये कहा है कि मेघ का जल प्रतिकूल वायु के द्वारा अन्य जलौघ से टकराकर विद्युत्-रूप में बदल जाता है तथा यहाँ की भीषण वायु मेघगर्जन-रूपी शब्दाकार में परिणत होती है।

मेघस्थमुदकं प्रतिकूलवातसहकृतेन तादृशेनोदकान्तरेणाभिहतं विद्युद् रूपतया परिणमति। अब्योऽग्निर्ब्रह्मणः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। तेषां सर्वत्रगः तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति। तत्रापि शब्दाकारः परिणामस्तु वज्रनिर्घोषाख्यो वायोरेव न जलस्य।

---

१ युधिष्ठिर मीमांसक, शिक्षासूत्राणि(आपिशलि-पाणिनि-चन्द्रगोमि-विरचितानि),पृष्ठ-१
२ उदयनाचार्य,शिक्षातत्त्वालोकभाष्यम्, पृष्ठ-७९
३ वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड-१०८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तदुक्तमग्निपुराणे- यदाऽन्तरिक्षे बलवान् मारुतो मरुता हतः। जायते तत्र निर्घोषो बलवान् वायुसम्भवः।[१]

इस प्रकार ये दोनों अलग-अलग उपादान कारणों के परिणाम हैं। जल का विद्युत् रूप में तथा वायु का शब्द-रूप में परिणाम होता है, विपरीत नहीं हो सकता । क्योंकि दर्शनशास्त्र में विद्युत् का कारण जल को ही तथा शिक्षाशास्त्र में शब्द का कारण वायु को ही बताया गया है। इसलिये यही मानना उचित है कि शब्द वायु द्रव्य का अथवा ध्वनि के विशेष परमाणु द्रव्यों का परिणाम है। इस प्रकार उसमें क्रिया तथा वेग बन जाने से वह अन्यत्र पहुँच सकेगा। इस प्रक्रिया के अनुसार भागते हुये वायु के अणु या ध्वनि परमाणु जब घने हो जाते हैं तो शब्द के रूप में बदल जाते हैं। जैसे दूध घना होकर दही बन जाता है अथवा जैसे हवा से बादल घने हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार यहाँ भी है। 'अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः' ।[२]

पुनः अगले क्षण उसका घनीभाव न रहने पर उनका शब्दभाव तिरोहित हो जाता है तथा ये पुनः वायुरूपता को धारण कर लेते हैं। अतः यही कहना समुचित है कि वायु द्रव्य ही घनीभूत होकर अन्ततः शब्दाकार में परिणत हो जाता है।

आधुनिकविज्ञान के अनुसार भाप वायु और धूल के कणों से निर्मित बादल आपस में टकराने से आवेशित हो जाते हैं। ऐसे में ऋण आवेश अन्य स्थान में वर्तमान विपरीत आवेश के प्रति आकर्षित होकर अति तीव्र गति से आकर उससे मिलता है। आवेश के इस प्रवाह से बिजली की चमक के रूप में प्रकाश-ऊर्जा मुक्त होती है। इस भयङ्कर प्रवाह के समय रास्ते में आने वाली हवा क्षण भर में हजारों अंश गर्म होकर बहुत तेजी से फैलती है। इस प्रक्रिया में बिजली की चमक केवल सेकेण्ड के कुछ सहस्रांश ही जीवित रहती है। इतने कम समय में भी यह रास्ते के वायु के ताप को बढ़ाते हुये इनके अणुओं में इतना जबरदस्त प्रकम्पन उत्पन्न करती है कि यह भयङ्कर ध्वनि उत्पन्न कर सके।[३]

---

१ वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड-१०८ पर अम्बाकर्त्री टीका

२ वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड-१०८

३ विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य- सुद्युम्नाचार्य,भारतीयदर्शन तथा आधुनिकविज्ञान खण्ड-२, ध्वनि एवं श्रवणविज्ञान।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया को और अधिक विशद करने के लिये आपिशलिशिक्षा के अष्टम प्रकरण में भी विचार किया गया है ;-

"तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरः प्रभृतीनां स्थानानामन्यस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते। स विधार्यमाणो वायुः स्थानमभिहन्ति। तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे, सा वर्णश्रुतिः। स वर्णस्यात्मलाभः।"[१]

अर्थात् शरीर के नाभिप्रदेश से प्रयत्नपूर्वक प्रेरित किया गया प्राणवायु ऊपर (कण्ठ, तालु आदि) की ओर उठता हुआ कण्ठप्रभृति स्थानों में से किसी विशेष स्थान पर प्रयत्नपूर्वक धारण किया जाता है। इस स्थिति में धार्यमाण वायु कण्ठप्रभृति स्थान पर अभिघात करता है। उस कण्ठ आदि स्थान पर अभिघात से आकाश में ध्वनि उत्पन्न होती है और इस प्रकार वर्ण श्रुतिगोचर होता है। यही शब्दोत्पत्ति है।

आचार्य आपिशलि के अनुसार शब्दोत्पत्ति के दो चरण हैं- आन्तर और बाह्य। जब सूक्ष्म शब्द (नाद) मूलाधार से उठता हुआ मुख तक पहुँचता है तो यह प्रक्रिया प्रथम चरण है और इसे आन्तरस्फोट कहा जा सकता है। यह नाद बुद्धिमात्रग्राह्य होता है और शाब्दिक नय में इसे मध्यमा वाक् कहा जाता है। जब वह नाद कण्ठ, तालु आदि स्थानों से विभक्त होता हुआ वर्णत्व को प्राप्त होता है तो यह इस प्रक्रिया का दूसरा चरण है इसे बाह्यस्फोट कहा जाता है। यह श्रोत्रग्राह्य होती है। शब्दोत्पत्ति की इस प्रक्रिया से पूर्व नाद की जो अतिसूक्ष्म अवस्था होती है, उसे परा अथवा पश्यन्ती की सञ्ज्ञा दी जाती है।[२]

बोलते समय अन्दर से निकलने वाली प्राणवायु तालु आदि के अभिघात के माध्यम से इन शब्दकणों को इकट्ठा कर लेती है। तभी उस शब्द का प्रत्यक्ष होने लगता है। यह ठीक वैसे ही है जैसे चारों ओर बहती हुई हवा धुँआ या बादल को इकट्ठा कर

---

१ आपिशलिशिक्षा ८/१

२ वैयाकरण भर्तृहरि वाणी के तीन मुख्य भेद मानते हैं ;-

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥– वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड-१४३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लेती है तभी वे बादल दीखने लगते हैं तथा बरसने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार प्राणवायु के द्वारा इन शब्दकणों को इकट्ठा करने पर ये सुनाई पड़ने लगते हैं।

तद्यथा धूमावयवा वायुना प्रेर्य संहतिमुपनीयन्ते तथा प्राणवातेन शब्दावयवा ध्वनिपरमाणवः सम्प्रेर्यमाणा स्थानेष्वभिघातेन घनीक्रियन्ते।[१]

शब्दों को मुख से बोले जाते समय अन्दर की वायु वेग से आकर मुख के विभिन्न स्थानों से टकराती है। इस समय यदि कण्ठ पूरी तरह खुला हो तो यह श्वास नामक शब्दाकार को धारण करती है। पर कण्ठ के सङ्कोच होने पर यह वायु नाद नामक शब्दाकार में परिणत होती है।

सोऽनुप्रदानरूपेण परिणतो वायुः कण्ठगतो विवृते कण्ठे श्वासरूपतां, संवृते कण्ठे नादतां च प्रतिपद्यते।[२]

पाणिनीयशिक्षा में भी आपिशलिशिक्षा की भाँति शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया के दो चरण दर्शाये गये हैं। तदनुसार अन्तःकरण अपनी बुद्धि से अर्थों की सङ्गति करके बोलने की इच्छा से मन को युक्त (एकाग्र) करता है। तत्पश्चात् युक्तमन जठराग्नि पर प्रहार करता है और वह जठराग्नि मूलाधारवर्ती वायु को प्रेरित करता है। तब वह वायु हृदय में विचरण करता हुआ मन्द स्वर उत्पन्न करता है और मुख तक पहुँचकर वक्ता के प्रयत्न के अनुसार कण्ठ-तालु आदि स्थानों में अभिघात से वर्णों को उत्पन्न करता है।

आत्मा बुध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥[३]

यहाँ श्लोक की प्रथम पङ्क्ति में मस्तिष्क में बोलने की इच्छा का विवरण दिया है। द्वितीय पङ्क्ति में मस्तिष्क द्वारा तन्त्रिका तन्तुओं के माध्यम से फेफड़े की वायु को प्रयत्नपूर्वक ऊपर उठाने के आदेश का सङ्केत दिया है। अन्तिम पङ्क्ति में सङ्केत से यह

---

१ वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड-११५ पर अम्बाकर्त्री व्याख्या
२ वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड-११५ पर अम्बाकर्त्री व्याख्या
३ पाणिनीयशिक्षा(श्लोकात्मिका)६-७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बताया है कि यही वायु विभिन्न स्थानों से अवरुद्ध होकर अनेक प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करने का निमित्त कारण बनती है। आपिशलिशिक्षा की अपेक्षा पाणिनीयशिक्षा के प्रतिपादन में इतना वैशिष्ट्य और है कि इसमें मूलाधार से वायु के उद्गमन से पूर्व की अर्थविचारविषयक प्रक्रिया भी प्रदर्शित की गयी है।

शुक्लयजुःप्रातिशाख्य[१] में वायु को ही मुक्तकण्ठ से शब्द की प्रकृति कहा गया है अर्थात् वहाँ शब्द को वाय्वात्मक माना गया है। इस प्रसङ्ग में उव्वट ने लिखा है कि सम्यक् करणों से उपहित हृदय में विद्यमान वायु ही शब्द का रूप ले लेती है।[२]

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य में भी शब्दोत्पत्ति की यही प्रक्रिया बताई गई है। इसमें केवल इतना ही सङ्केत है कि शरीरवर्ती वायु के अभिघात से कण्ठ और उरःस्थल के मध्य शब्द की उत्पत्ति होती है।[३]

आधुनिकविज्ञान भी शब्दोत्पत्ति के सम्बन्ध में शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित इस धारणा को समर्थन प्रदान करता है। उसके अनुसार शब्द उत्पन्न करने के लिये उपाय चाहे जो हो, पर उन सबका एकमात्र उद्देश्य होता है – प्रकम्पन या ध्वनि-तरङ्गें उत्पन्न करना। मुख से बोलते समय भी स्थान- करण के अभिघात नामक संयोग द्वारा यही कार्य होता है। तेज हवा चलने पर वायु के अणुओं का तीव्र संयोग होने पर भी ध्वनि-तरङ्गें न बनने से शब्द उत्पन्न नहीं होता। इस समय न्याय के शब्दों में हवा का वेग से नोदन नामक संयोग होता है। अतः प्रकम्पन नहीं होता। पर मुख से शब्द बोलते समय हवा न चलने पर भी अभिघात नामक संयोग से वायु में ध्वनि-तरङ्गें बन जाने से शब्द उत्पन्न हो जाता है।

---

१ वायुः खात्। शब्दस्तत्। – शुक्लयजुःप्रातिशाख्य १/६-७

२ सम्यक्करणैरुपहितो हृदि वायुर्वेणुशङ्खादिभिः शब्दीभवति। – शुक्लयजुःप्रातिशाख्य १/८ पर उव्वटभाष्य

३ वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने।–तैत्तिरीयप्रातिशाख्य २/२
तुलना करें- अथ शब्दोद्भवो वायुशरीरकसमीरणात्।
कण्ठोरसोश्च सन्धाने तस्योत्पत्तिः प्रकीर्तिता॥ – पारिशिक्षाटीका याज्ञुषभूषणम् का हस्तलेख

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भौतिकविज्ञान का नियम है कि किसी गतिशील वस्तु को अचानक रोककर जाने देने पर उसकी गतिज ऊर्जा ऊष्मा तथा ध्वनि में बदल जाती है। परिणामत: वस्तु में ध्वनि-तरङ्गें उत्पन्न हो जाती हैं। किसी गेंद को सीधे फेंककर किसी दीवाल से अचानक टक्कर देकर अथवा सीटी बजाते समय मुख से सीधी फेंकी गई वायु को आगे रोककर तथा अन्य दिशा से जाने देकर ठीक यही कार्य किया जाता है। मुख से बोलते समय भी अन्दर की उच्छ्वास वायु को रोककर इसी सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि उत्पन्न की जाती है। इस प्रक्रिया में हम बाहर से ली गई स्वच्छ वायु से कभी शब्द नहीं बोल सकते। वायु में ध्वनि-तरङ्गों का वेग वायु की गति से प्रभावित होता है। शान्त वातावरण में ध्वनि-तरङ्गों का वेग ३३२मीटर प्रति सेकेण्ड होता है पर तीव्रगामी वायु ध्वनि-तरङ्गों के इन संहननों को अपने साथ बहा ले जाती है। अत: यदि ध्वनि का वेग c हो और पवन का वेग w हो तो पवन की दिशा में ध्वनि का वेग ċ+w तथा विपरीत दिशा में यह c-w हो जाता है।[१]

इस प्रकार शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया सम्बन्धी आधुनिकविज्ञान की मान्यता भी वैयाकरणों की मान्यताओं के समान ही है।

प्रचेतस् शास्त्री
शोधच्छात्र
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

[१] आधुनिकविज्ञान की शब्दोत्पत्ति सम्बन्धी क्या-क्या मान्यतायें हैं ? इसे विस्तार से समझने के लिये जिज्ञासु पाठक सुद्युम्नाचार्यप्रणीत "भारतीयदर्शन तथा आधुनिकविज्ञान - द्वितीय खण्ड," ध्वनि एवं श्रवणविज्ञान, देखें।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अङ्क-२३
जनवरी-जून २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

वैदिकसाहित्य में सौन्दर्य-अनुशीलन

सन्त प्रकाश तिवारी

सौन्दर्य शब्द की व्युत्पत्ति

सौन्दर्य शब्द सुन्दर+ष्यञ् से बना है। जिसका अर्थ है मनोहरता। सुन्दर की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है जिसकी एक व्युत्पत्ति है- सु+उन्द+अरन्। इसका शाब्दिक अर्थ है, नयनों को सिक्त कर देने वाला अर्थात् सुख देने वाला।

भारतीय-वाङ्मय में 'सौन्दर्य' शब्द का शास्त्रीय-सन्दर्भ में प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है। वेदों में और मूल उपनिषदों में यह शब्द उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु सौन्दर्य की अवधारणा उसके वाचक-व्यञ्जक शब्दों तथा उक्तियों का अभाव नहीं है। सिन्धु सारस्वत-सभ्यता से ही कला-सौन्दर्य की परम्परा अत्यन्त उत्कृष्टतम रूप में ही रही है। वेद के साहित्यिक अध्ययन अथवा काव्यशास्त्रीय अध्ययन से ज्ञात होता है कि वेदों में सौन्दर्य-शास्त्रीय तत्त्व सर्वथा प्राप्य हैं।

भारतीय दार्शनिकों ने भौतिक 'सौन्दर्य' पर दार्शनिक विवेचन नहीं प्रस्तुत किये हैं। धर्म-ग्रन्थों में इसका उल्लेख अवश्य मिलता है। प्रो० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने स्वतन्त्रकला-शास्त्र के प्रथम भाग में उल्लेख किया है कि भारतीय दृष्टिकोण से स्वतन्त्रकलाओं की सङ्ख्या तीन है- काव्य (जिसके अन्तर्गत नाट्यकला भी है), सङ्गीत एवं वास्तु।[१] इन्हीं कलाओं के आधार पर भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के उद्भव एवं विकास के स्वरूप का निरूपण किया जा सकता है।

---

[१] स्वतन्त्रकलाशास्त्र, भाग १, पृ० ३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भारत में कला की प्राचीनता

भारत उन देशों में से एक है जहाँ पर सांस्कृतिक परम्पराएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। प्रागैतिहासिक युग के मानव की कला के नमूने भारत में अनेक स्थलों पर उपलब्ध हुए हैं। सिन्धु सारस्वत-सभ्यता, ज़िसका समय ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व माना जाता है।[१] उसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उतने प्राचीन समय में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, भाण्डनिर्माण, लौहवस्तु-रचना आदि अनेक भौतिक कलाएँ प्रसिद्ध थीं।[२] पुरातत्त्व-अन्वेषण से प्राप्त पकाई गई ईंटों और चूने, मिट्टी की पकाई हुई मानवों और पशुओं की मूर्तियों,[३] वृषभ के चित्र और लेख से अङ्कित मुद्राओं, दर्पण, सुरमे की सलाई, सीप के चमचों, अँगूठी एवं चित्राङ्कित भाण्डों से इन कलाओं का अस्तित्व सिद्ध होता है। ये मूर्तियाँ भी दो भागों में बाँटी जा सकती हैं-

१. **खिलौने के रूप में**- उक्त सभी मूर्तियाँ खिलौने के रूप में प्रयुक्त होती थीं, किन्तु इनमें भी पशु-पक्षियों तथा पुरुषों की मूर्तियाँ मुख्य हैं जो खिलौने के रूप में निर्मित हुईं।

२. **धार्मिक**- मुख्यतः नारियों की मृण्मूर्तियों सम्भवतः धार्मिक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थीं या धार्मिक कार्यों के लिए निर्मित हुईं।

सिन्धुसारस्वत-सभ्यता के मूर्तिकला को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ की कला सामान्यतः दो रूपों में विकसित हुई कुलीन-कला के रूप में तथा लोककला के रूप में। कुलीन-कला के रूप में बड़े अभिजात्य लोगों के लिये मुख्यतः प्रदर्शन मात्र के लिये मूर्तियाँ लौकिक उद्देश्य के लिए बनीं। तत्कालीन मृण्मूर्तियाँ मुख्यतः लोक-कला के रूप में ही निर्मित हुई हैं। कुछ विरल मूर्तियाँ धार्मिक उद्देश्य के लिए भी बनीं, ऐसी मूर्तियों में मातृदेवी की मूर्तियाँ ही मुख्य हैं।

---

[१] प्राचीन भारतीय कला - वास्तुकला एवं मूर्तिकला पृ० २३

[२] स्वतन्त्रकलाशास्त्र, भाग १, पृ० ७

[३] भारतीय कला, पृ० ३०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सिन्धु-सारस्वत-सभ्यता के उत्खननों से प्राप्त अनेक मोहरों पर बनी हुई पशु-आकृतियाँ विशिष्ट महत्त्व की बनीं हुई हैं । इसी प्रकार से खिलौने, बर्तन तथा आभूषणों का निर्माण भी बड़े कलात्मक ढँग से हुआ है। यहाँ से प्राप्त होने वाले मृण्मूर्तियों, भाण्डों एवं मुहरों आदि को देखकर उस युग के कला का सम्यग् ज्ञान हो जाता है। पत्थर तथा काँस्यमूर्तियों का भी निर्माण होता था। नर्तकी की काँस्यमूर्ति अद्भुत उदाहरण है। यह मूर्ति कण्ठहार तथा भुजा में चूड़ियाँ पहने है तथा वेणी कलात्मक-रूप से बँधी है। एक हाथ कमर पर रखे हुए उत्तेजक-मुद्रा में है। यह मूर्ति तत्कालीन मानव के सौन्दर्य-बोध की परिचायक है।

वैदिकवाङ्मय

वैदिकवाङ्मय काव्यदृष्टि से, - साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से भी वैदिकवाङ्मय की गुणवत्ता असन्दिग्ध है। काव्यात्मक सौन्दर्य के सम्बन्ध में वेदों के मूल्याङ्कन की प्रक्रिया तो निरुक्त में ही प्रारम्भ दिखलाई देती है, किन्तु विगत शताब्दी में यह अधिक तीव्र हुई है।[१] विद्वानों की यह मान्यता सुदृढ़ होती जा रही है कि वेद स्वयं काव्य-रूप है और उसमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। काव्य-सौन्दर्य के आधार पर रस, भाव, गुण, रीति और अलङ्कार आदि सभी तत्त्व मूलरूप में वेदों में पाये जाते हैं। जिनका क्रमिक निरूपण इस प्रकार है-

---

[१] इस दृष्टि से जिन विद्वानों ने विशेष कार्य किया है वे कुछ प्रमुख हैं-कई, प्रो० जे० खोण्डा गेडनर, माइणकर, दिवेकर, पी०एस० शास्त्री, एन०जे० शैंदे, वेलणकर, मातृदत्त त्रिवेदी, प्रो० ओ०पी० पाण्डेय इत्यादि। कुछ प्रमुख अध्ययन इस प्रकार हैं-

(i) Der Rigveda, die alteste literature der Inder (A. Kaegi).
(ii) Stylistic Repetition of the veda (GONDA. Amsterdam).
(iii) Les Fleurs de Rhetorique dans Inde (Diwekar)
(iv) Kavi and Kavya in the Atharveveda (N.J. Shende)
(v) अथर्ववेद- एक साहित्यिक अध्ययन (मातृदत्त त्रिवेदी)
(vi) वैदिक साहित्य एवं संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन (ओम् प्रकाश पाण्डेय)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रस-निष्पत्ति और भाव-विभूति - भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की वैदिक उपजीव्यता को उद्घाटित करते हुए कहा है-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

इसके अनुसार ऋग्वेद से संवादों का, सामवेद से गीतों का, यजुर्वेद से अभिनयों का और अथर्ववेद से रसों का ग्रहण कर नाट्य-रचना सम्पन्न हुई। अभिप्राय यह है कि अथर्ववेद को रस-स्रोत माना जाना चाहिए और अथर्ववेद में बहुत से ऋग्वेदीय मन्त्र हैं, इसलिए ऋग्वेद में भी रसगर्भ-प्रसङ्ग होने चाहिए। यहाँ शङ्का यह उत्पन्न होती है कि वैदिककाव्य अधिकांशतया मुक्तकात्मक होते हैं- इतिवृत्ति से रहित और जहाँ कुछ ऐतिहासिक और रूढिपरक नाम दिखलाई देते हैं। वहाँ भी प्राचीन मीमांसक और आदिभौतिक-व्याख्याकार इतिहास की सत्ता न मानकर उसकी व्याख्या यौगिक ढँग से प्राकृतिक घटनापरक कर देते हैं। आधुनिककाल में आर्य-समाज के अनुयायियों का भी यही अभिमत है। तात्पर्य यह है कि रसनिष्पत्ति के लिए आवश्यक आलम्बन-विभाव की स्थिति में ही न बन पाने के कारण वैदिककाव्य में रसनिष्पत्ति कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि वेद में इतिहास नहीं भी माना जाय तब भी आलम्बन (नायक के लिए नायिका या नायिका के लिए नायक के रूप में) की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। उदाहरण के लिए पुरूरवा और उर्वशी को यदि वायु और विद्युत् मान लिया जाये, जैसा कि 'वाररुचनिरुक्तसमुच्चय' में नैरुक्तों के नाम से अभिमत प्रकट किया गया है।[1] तब भी रसनिष्पत्ति हो जायेगी- यदि अन्य स्थितियाँ अनुकूल हैं। 'मेघदूत' का यक्ष भी 'कश्चित्' ही है- उसका वहाँ कोई नाम नहीं दिया गया है, तब भी वहाँ रसनिष्पत्ति होती ही है। यदि रस-प्रक्रिया को

[1] य नैरुक्तपक्षे तु पुरूरवः मध्यमस्थानो वादवादीनामेकतः पुरुरौति इति पुरुः उर्वशी विद्युत् उरुविस्तीर्णाम् अन्तरिक्षम् अश्नुते दीव्यत इति उर्वशी। वर्षाकाले विद्युति विनष्टायां तथा नियुक्तः स्तनयित्नु लक्षणं शब्दं कुर्वन् विलपति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ध्यान में रखा जाये तो नायक-विशेष या नायिका-विशेष के अभाव में साधारणीकरण की प्रक्रिया अधिक तेजी से कार्य करती है। निष्कर्ष-रूप में यह कह सकते हैं कि वैदिक-वाङ्मय में अनेक ऐसे सरस प्रसङ्ग हैं, जिनमें निविड रस-निष्पत्ति का अनुभव होता है।

पुरूरवा और उर्वशी के संवाद में विप्रलम्भशृङ्गार के अनेक हृदयद्रावक उदाहरण सन्निहित हैं। उर्वशी पुरूरवा से कहती है कि जैसे नीड़ से पक्षी उड़ जाते हैं वैसे ही मैं तुम्हारे सान्निध्य को छोड़ चली हूँ। पुरूरवा ! तुम वापस लौट जाओ, मेरे मन में तो देवता आ समाये हैं।

उदपप्तम वसतेर्वयो यथा रिणन्त्वा भृगवो मन्यमानाः।
पुरूरवः! पुनरस्तं परेहि आ मे मनो देवजनाः अयान्त्स्युः।।[१]

प्रणय-प्रसङ्ग में इससे बढ़कर और क्या त्रासदी हो सकती है कि प्रिय और प्रेयसी दोनों एक दूसरे की मनोवेदनाओं से परिचित हैं, एक दूसरे के सामने खड़े हैं किन्तु विचित्र विडम्बना है कि एक दूसरे के प्रणयपाश में आबद्ध नहीं हो सकते।

अथर्ववेद के अनेक सूक्तों में संयोग की कामना भी बहुत आवेगपूर्वक व्यक्त हुई है। किसी स्त्री के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए ऋषि-कवि का कथन है:- मैं तेरे मन को अपनी ओर वैसे ही खींचता हूँ, जैसे आगे चलने वाला घोड़ा साथ चलने वाली घोड़ी को ;- **आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।**
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः।।[२]

प्रेम की ऊष्मा से दग्ध स्त्री अपने प्रियतम को अपने दुपट्टे में बाँधकर रखना चाहती है, जिससे वह दूसरी स्त्रियों की ओर फूटी आँख से भी न देखे ;-

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।

---

[१] ऋग्वेदः खिल ३.१९.१
[२] अथर्ववेदसंहिता ६.१०२.२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यथासो॒ मम॒ केव॑लो॒ नान्यासा॑ की॒र्तयाश्च॒न।।[1]

श्रृङ्गार की ही भाँति वेद में अन्य रसों की भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इन्द्र की वीरता का वर्णन करते हुए ऋषि गृत्समद का कथन है- इन्द्र के बिना मनुष्य युद्ध में विजय नहीं प्राप्त कर सकता। युद्ध करते हुए सैनिक अपनी रक्षा के लिए उसे टेरते हैं। वह वीरता में अप्रतिम है, अपराजेय व्यक्तियों को भी इन्द्र पराजित कर देता है ;-

यस्मा॒न्न ऋ॒ते वि॒जय॑न्ते॒ जना॑सो॒ यं युध्य॑माना॒ अव॑से॒ हव॑न्ते।
यो विश्व॑स्य प्रति॒मानं॑ ब॒भूव॒ यो अ॑च्यु॒तच्यु॒त् स ज॑नास॒ इन्द्रः।।[2]

अथर्ववेद में 'रस' शब्द ३० बार आया है। लाक्षणिकरूप से उसे आलोच्य 'रस' के सन्दर्भ में लिया जा सकता है। रति के अतिरिक्त शोक, भय, क्रोध और विस्मयादि भावों की अभिव्यक्ति भी वैदिक-काव्य में स्थान-स्थान पर हुई है। अथर्ववेद के कृत्यासूक्त के अन्तर्गत एक मन्त्र में जो सम्मति खिलरूप में है, कहा गया है कि जिस पेड़ में विद्युत् गिरती है, वह जैसे जड़ से सूख जाता है, वैसे ही कृत्या उस व्यक्ति को सुखा दे, जिसके हृदय में हमारे प्रति पापभावना है ;-

यथा विद्युद्धतो वृक्ष आ मूलादनु शुष्यति।
एवं स प्रति शुष्यतु यो मे पापं चिकीर्षति।।

वैदिककाव्य में शब्दशक्तियाँ

वैदिककाव्य को शास्त्रकारों ने सामान्यतः शब्दप्रधान कहा है- तदनुसार अभिधा का इसमें प्राधान्य है लेकिन काव्य में अभिधा का विशेष महत्त्व नहीं होता है, इसीलिए ऋषि ने वेद में भी लक्षणा का आश्रय स्थान-स्थान पर लिया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विद्यमान लाक्षणिक-प्रवृत्ति को तो निरुक्तकार यास्क ने इङ्गित किया है- **'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि'**[3] अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों ने देवों के विषय में

---

[1] अथर्ववेदसंहिता ७.३७.१ ।
[2] ऋग्वेदसंहिता २.१२.९
[3] निरुक्त ७.२४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भक्ति अथवा गुण-कल्पना के माध्यम से बहुविध तात्त्विक अन्वेषण किया है। अर्थवाद के भी तीन भेद हैं-गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। इनमें से गुणवाद लक्षणा के अत्यन्त निकट है। परवर्ती मीमांसकों और काव्यशास्त्र के आचार्यों ने दोनों को एक ही मानकर विवेचना किया है। गुणवाद के सन्दर्भ में प्राप्य वैदिक उदाहरण इस प्रकार हैं- **'स्तेनं मनः'**, **'आदित्यो यूपः**, **'श्रृणोत ग्रावाणः'** इत्यादि।

साहित्य के ग्रन्थों में लक्षणा निरूपण के प्रसङ्ग में आचार्यों ने इसीलिए **'सिंहो माणवकः'**, **'गौर्वाहीकः'** प्रभृति लौकिक उदाहरणों के साथ ही **'यजमानः प्रस्तरः'**, **'आदित्यो यूपः'** इत्यादि वैदिक उदाहरण उन्मुक्तता से दिये गये हैं। भोजराज ने तो एक कदम आगे बढ़कर अर्थवादात्मक लाक्षणिक प्रयोगों में निहित काव्यात्मक चारुता को भी वचनवक्रता के रूप में पहचानने की चेष्टा की है- **वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति श्रुति ;-** (श्रृङ्गारप्रकाश)

वैदिककाव्य में मीमांसकों ने व्यञ्जना के अस्तित्व को मान्यता नहीं दी है।

अलङ्कारसौष्ठव- वैदिकवाङ्मय में उपमा और रूपक प्रभृति अलङ्कारों का प्रचुर प्रयोग दिखलाई देता है। वेद से लेकर आज तक इतने व्यापक-रूप में और परिमाण में उपमा का व्यवहार हुआ है कि राजशेखर ने उसे अलङ्कारशिरोमणि, काव्यसम्पदा की सर्वस्व और कवियों की माता की गरिमा से सम्पन्न बतलाया है -

अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥

अप्पयदीक्षित के अनुसार उपमा एक नर्तकी के समान है, जो काव्य के रङ्गमञ्च पर अवतीर्ण होकर अपने चित्र-विचित्र रूपों के द्वारा काव्यरसिकों के हृदय को विमुग्ध कर देती है-

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्य चित्रभूमिकाभेदेन।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।। (चित्रमीमांसा)

उपमा का वेद के सन्दर्भ में, सर्वप्रथम विवेचन यास्क ने निरुक्त में किया है। तदनुसार उपमावाचक निपात चार हैं- 'इव', 'न', 'चित्' और 'नु'। उपमा को

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परिभाषित करते हुए यास्क ने पहले गार्ग्य का मत दिया है, जिसके अनुसार उपमा का विषय उपमा से भिन्न होने पर भी उसके सदृश होता है- **'यद् अतत् तत्सदृशं कर्म इति गार्ग्यः।** इसके अनन्तर यास्क का अपना मत है- उपमा में अधिक गुण वाले अथवा अत्यन्त प्रख्यात उपमान के साथ न्यून गुण वाले अथवा अल्प प्रसिद्ध उपमेय का सादृश्य प्रदर्शित किया जाता है- **ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते।'**[1] निरुक्तकार ने उपमा के कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा-सञ्ज्ञक भेदों का उल्लेख किया है।

ऋग्वेदीय उषस् सूक्त (५.८०) के अन्तिम दो मन्त्रों में उषस् की समानता रूपगर्विता लावण्यमयी नारी, खड़ी होकर स्नान करने वाली युवती तथा सुन्दर स्वभाव वाली प्रिया के साथ प्रदर्शित है ;-

ए॒षा शु॒भ्रा न त॒न्वो॑ विदा॒नोर्ध्वेव॑ स्ना॒ती दृ॒शये॑ नो अस्थात्।
अप॒ द्वेषो॒ बाध॑माना॒ तमां॑स्यु॒षा दि॒वो दु॑हि॒ता ज्योति॒षागा॑त्॥

यह उषा किसी रूपगर्विता लावण्यमयी नारी के समान, खड़ी होकर स्नान करने वाली किसी युवती के सदृश इसलिए खड़ी रहती है कि हम दर्शन कर सकें। आकाश की कान्तिमयी कन्या उषा अन्धकार को दूर हटाती हुई अपने मनोरम तेज के साथ आ पहुँची है। सूर्य उषा का पीछा उसी प्रकार करता है, जैसे कोई युवक किसी युवती का पीछा करता है ;- **सूर्यो॑ दे॒वीमु॒षसं॒ रोच॑मानां॒ मर्यो॒ न योषाम॒भ्ये॑ति प॒श्चात्।**[2]

उपमा के अनन्तर वैदिक काव्य में सर्वाधिक प्रयोग रूपक-अलङ्कार का हुआ है इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण निम्नलिखित मन्त्र है ;-

द्वा सु॑प॒र्णा स॒युजा॒ सखा॑या समा॒नं वृ॒क्षं परि॑ षस्वजाते।
तयो॑र॒न्यः पिप्प॑लं स्वा॒द्वत्ति॑ अन॑श्नन्न॒न्यो अ॒भि चा॑कशीति॥[3]

---

[1] निरुक्त ३.३.१३
[2] ऋग्वेदसंहिता १.११५.२
[3] वही १.१६४.२०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इसमें जीव और परमात्मा का निरूपण दो सुन्दर पक्षियों के रूप में एक ही वृक्ष पर समासीन रूप में किया गया है। इसमें से एक स्वादिष्ट फलों का भोक्ता है और दूसरा मात्र तटस्थ द्रष्टा है।

विद्वानों ने इसमें विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कारों की भी उद्भावना की है। साथ ही अनुप्रास भी है। मन्त्रगत **'अनश्नन् अन्यः अभि चाकशीति'** (फलास्वादन न करते हुए भी अपने तेज को प्रकट कर रहा है) अंश में विभावना-अलङ्कार है- बिना हेतु के कार्य होना **(विभावना विना कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते)**[१] फल का भोग ही दैहिक सौन्दर्य या तेज का जनक है, जबकि यह कार्य यहाँ बिना फल-भोग-रूप हेतु के ही हो रहा है। इसीको उलट देने पर विशेषोक्ति हो जाती है- **'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिर्बुधैर्मता'**[२] हेतु के होने पर भी फल का न होना। यहाँ 'अनश्नन्' के रूप में तेज के अभाव का कारण विद्यमान है, किन्तु वह है नहीं।

वैदिकसाहित्य में सौन्दर्य के पर्यायवाची शब्द और उनका अनुशीलन

वेदों में प्रायः 'सौन्दर्य' एवं 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है, किन्तु उनके पर्यायों[३] का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। प्रकृति के वैभव और जीवन के आनन्द से प्रेरित वैदिक ऋचाओं में रूप और रस का अपूर्व वर्णन है। वैदिक-साहित्य में सौन्दर्य के जिन पर्यायों का प्रयोग हुआ है उनमें प्रमुख हैं- रूप, चारु, रुचिर, वल्गु, प्रिय, प्रेयस्, भद्र, रण्व, चित्र, मधुर, श्रिय आदि। वैदिकसाहित्य में प्रयुक्त सौन्दर्य के पर्यायवाची शब्दों के कुछ प्रमुख प्रयोग निम्नलिखित हैं- **विश्वा रूपाणि प्रति**

---

[१] साहित्यदर्पण १०/६६

[२] साहित्यदर्पण १०/६७

[३] सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्। कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्।।
अभीष्टेऽभीप्सितं हृदयं दयितं वल्लभं प्रियम्।। (अमरकोश ३/५२-५३)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मुञ्चते कविः[1]- वह ज्ञानवान् ईश्वर समस्त रूपों को प्रतिक्षण धारण करता है। किन्तु अनेक प्रसङ्गों में सौन्दर्य का भाव उसमें निहित है।

भुवत् त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सरः। सं रूपैरज्यते हरिः॥[2]

वह दुःखहारी पुरुष विविध रूपों से अलङ्कृत किया जाता है ;-

हरित्वता वर्चसा सूर्यस्य श्रेष्ठै रूपैस्तन्वं स्पर्शयस्व॥[3]

दिशाओं में व्याप्त सूर्य के तेज और उसके उत्तमोत्तम रूपों से हमारे देश का स्पर्श कर।

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।[4]

जो अनेक प्रकार के सुन्दर वस्त्राभूषण आदि धारण कर ऐन्द्रिय-सुखों में लिप्त रहते हुए अपने बल से विचरण करते हैं। वैदिक-संस्कृत में चारु शब्द के दो अर्थ हैं- १. कल्याण-रूप २. सुन्दर या प्रीतिकर।

चारु-यमीं गर्भमृतावृधो दृशे चारुमजीजनन्। कविं मंहिष्ठमध्वरे पुरुस्पृहम्॥[5]

जगत् को धारण करने वाले जिस चारु अर्थात् सबके कल्याणरूप अथवा प्रिय प्रभु को- चारु-इन्दु पविष्ट चारुमेदामऽपामुपस्थते कविर्भगाय।

चारु अर्थात् कल्याणरूप अथवा प्रीतिकर इन्दु = सोम। 'शुभ्रा'[6] शब्द भी तेजस्विता के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वेदों में श्रियः और श्रेष्ठ आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर परमेश्वर का गुणगान व प्रार्थना इस प्रकार से किया गया है-

श्रेष्ठ-अस्मे श्रेष्ठैभिर्भानुभिर्विभाह्युषो देवि प्रतिरन्ती न आयुः।[7]

---

[1] ऋग्वेदसंहिता ५.८१.२
[2] वही, ९.३४.४
[3] वही, १०.११२.३
[4] यजुर्वेदसंहिता २.३०
[5] ऋग्वेदसंहिता ९.१०२.६
[6] ऋग्वेदसंहिता ७.६८.१
[7] वही, ७.७७.५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(उषः देवि) हे ज्योतिस्वरूप तथा दिव्यगुण सम्पन्न परमेश्वर (अस्मे) हमें (श्रेष्ठेभिः, भानुभिः) सुन्दर प्रकाशों से (विभाहि) भली प्रकार युक्त करें (नः) हमारी (आयु, प्रतिरन्ती) आयु को बढ़ावें। एवं शब्द का प्रयोग चाक्षुष-सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।

रण्व- अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम्।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक्।।[१]

आओ कान्तिमयी उषा को अपनी अञ्जलि अर्पित करो और उसे नमस्कार करो। ऊपर आकाश में वह मधुदायिनी अपने आलोक का प्रसार कर रही है और वह रमणीयदर्शना सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित कर रही है।

चित्र- अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान् मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु।[२]

कान्तिमय उषःसमूह पूर्वदिशा में यज्ञ-स्तूपों के समान स्थिति है। यहाँ चित्र का अर्थ कान्तिमय है।

अथर्ववेद में भी 'सुन्दर'के अभिप्राय से अनेक शब्द मिलते हैं।

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगस्त्वस्यै।।[३]

हे अग्ने ! हमारी यह कन्या, भाग्य से हमारी सुमति के अनुरूप योग्य वर को प्राप्त करे। समान मनस्क वरपक्ष के लोगों को यह रुचिरा कन्या प्रिय हो और पति के साहचर्य में इसे सुख-सौभाग्य का लाभ हो।

वल्गुः रुचिरा प्रीतिजननी स्यात्।[४]

---

[१] वही, ३.६१.५
[२] वही, ४.५१.२
[३] अथर्ववेद- २.३६.१
[४] अथर्ववेद , भाष्य ग्रन्थमाला-१३- सायण (सं० विश्वबन्धु)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन् योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः। व्यूर्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः।[१]

जिस प्रकार दिव की पुत्री उषा अभिमुख होकर अपने सुखप्रद रूपों को प्रकट करती है, और पूर्वदिशा को आलोक से पूरित कर देती है, इसी प्रकार (पति के प्रति) अपनी प्रेम कामनाओं को व्यक्त करने वाली यह कन्या अपने सुखप्रद-रूप को प्रकट करे।

उषस्-सूक्त में प्रकृति के गोचर-सौन्दर्य का अपूर्व उल्लास है। अलोकवसना उषा प्राची दिशा में उदित होकर अपने सौन्दर्य को अनावृत करती है। उसकी तनद्युति सद्यःस्नाता की भाँति उज्ज्वल है। वह रात्रि के श्याम-आवरण को भङ्ग करके अपने रूप को प्रकट करती है।[२] मरुतों के अमित तेज का बार-बार उल्लेख किया गया है- वे स्वर्णवर्ण हैं, अरुण आभा से दीप्त हैं, अग्नि के समान तेजस्वी और स्वप्रकाश से भास्वर हैं। विद्युत् के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके शस्त्रास्त्र, वे सोने की माला, सोने के वस्त्राभूषण और शिरस्त्राण धारण करते हैं।[३] इसी प्रकार इन्द्र, रुद्र और विष्णु आदि के भी विराट् एवं तेजस्वी-रूपों का वर्णन ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में मिलता है। इन सभी प्रसङ्गों में सौन्दर्य के ऐन्द्रियस्वरूप की स्पष्ट स्वीकृति है और कान्ति, वर्ण तथा ऊर्जा आदि उसके प्रमुख तत्त्वों का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया गया है।

१. बुनाई- भेड़ों की ऊन सूत के रूप में काती जाती थी और उससे ऊनी वस्त्र बनाये जाते थे।[४] ऐसे लोग थे जो बुनाई की कला को सीखते थे और अपनी जीविका का

[१] ऋग्वेदः ५.८०.६।
[२] ऋग्वेदसंहिता ५.८०.५
[३] वही, ७.५६.१३
[४] वही, १०.२६.६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

साधन बनाते थे, इनको वायु[१] कहा जाता था। बुनाई के यन्त्र को तन्त्र[२] कहते थे।

२. **बढ़ईगीरी-** उस समय में बढ़ई का काम करने वाले लोग थे जिनको तष्ट्र[३] या तक्षन्[४] कहते थे। वे रथ के पहिए, नौकाएँ और लकड़ी के बर्तन बनाते थे।

३. **लुहारी-** वैदिककाल में लोहार थे जिनको कार्मार[५] कहा जाता था। ये लोग खेती के काम में आने वाले औजार तथा युद्धोपयोगी शस्त्रादि बनाते थे।

४. **मृद्भाण्डकला** (कुम्हारी)- वैदिकयुग में कुम्हार थे जो सरलता से टूटने वाले[६] मिट्टी के के बर्तनों की रचना करते थे।

५. **सुनारी-** उस युग में स्वर्णकार या सुनार थे जो सोने के अलङ्कार जैसे कण्ठहार (निष्क) कर्णकुण्डल[७] आदि की रचना करते थे।

६. **चर्मकारी-** वैदिककाल में चमड़े को कमाने वाले लोग थे जिनको चर्मम्न[८] कहा जाता था। चमड़े के बने हुए उन बर्तनों का भी उल्लेख मिलता है जिनकी रचना वे लोग करते थे जो चमड़े को कमाना और उसको उपयोगी स्वरूपों में सिलना जानते थे।

७. **माला बनाने की कला-** वैदिकयुग में ऐसे लोग भी थे जो जीविका के लिए फूलों से मालाएँ एवम् अन्य अलङ्कारों की रचना करते थे।[९]

८. **केशसंस्कार-कला-** वप्ता[१०] अर्थात् नाई का उल्लेख भी वेदों में प्राप्त होता है।

---

[१] वही, १०.२६.६
[२] वही, १०.७१.९
[३] ऋग्वेदसंहिता, १०.११९.५
[४] वही, ९.११२.१
[५] वही, ९.११२.१
[६] वही, १०.८९.७
[७] वही, ८.४७.१५
[८] वही, ८.५.३८
[९] वही, ८.४७.१५
[१०] वही, १०.१४२.४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

९. **भैषज्यकला-** उस युग में चिकित्सक भी थे जिनको भिषक्[१] कहा जाता था। ये लोग रोगों को फैलते हुए देखने के लिए उत्कण्ठित रहते थे।

१०. **कढ़ाई-** मरुतों के विषय में यह कहा गया है कि वे स्वर्ण से अलङ्कृत[२] प्रावार (चोंगा) धारण करते थे। वरुण के वर्णन में यह कहा गया है कि वे सुवर्णसूत्रालङ्कृत[३] सोने के सूत से कढ़े हुए वस्त्रों को धारण करते थे। कढ़े हुए वस्त्र[४] को पेशस् कहा गया है।

११. **नृत्य-** ऋग्वेद के युग में स्त्री और पुरुष दोनों नृत्य करते थे। बाँस की छड़ियों को ऊपर आकाश की ओर उठाकर[५] नृत्य करते हुए स्त्रियों एवं पुरुषों का वर्णन प्राप्त होता है। नाचने वाले व्यक्ति को 'नृत' कहते थे। युद्ध के अवसर पर उत्तेजना की दशा में इन्द्र नृत्य करते थे। नाचने वाली नारी को नृतु कहा जाता था। सम्भवतः इस शब्द का प्रयोग उस नृत्यजीवी नारी के लिए किया जाता था जो नृत्य के समय कढ़े हुए वस्त्रों को धारण करती थी और लोगों को आकर्षित करने के लिए[६] अपने स्तनों को नग्न कर देती थीं। ऋग्वेद में एक स्थल पर[७] एक अन्त्येष्टिक्रिया के अवसर पर नृत्य के साथ-साथ हास का भी उल्लेख है।

१२. **काव्य-** स्वयम् ऋग्वेद ही इस तथ्य का स्पष्टतया प्रमाण है कि वैदिकयुग में काव्यकला उत्कृष्टता को प्राप्त कर सकी थी। सभी वैदिक कवि, द्रष्टा एवम् ऋषि थे। उन्होंने चारित्रिक एवम् आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार किया था और उनकी अभिव्यक्ति समुचित छन्दों में की थी। विश्व के सम्भवतः वे सबसे अधिक प्राचीन कवि थे। उनका प्रकृति का प्रत्यक्षीकरण सजीव तथा सुन्दर था।

---

[१] वही, ९.११२.१
[२] वही, ५.५५.६
[३] ऋग्वेदसंहिता, १.१६.१३
[४] वही, २.३.६
[५] वही, १.१९.१
[६] वही, १.९२.४
[७] वही, १०.१८.३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ऋग्वेद में प्राकृतिक तथा काल्पनिक काव्य-प्रवृत्तियों का स्वाभाविक सम्मिश्रण हुआ है जैसा कि उषस्, सूर्य, चन्द्र आदि के वर्णन से ज्ञात होता है। ऋग्वेद में उन जटिल और सूक्ष्म विषयों का भी वर्णन है जिनका अनुभव हम अपनी स्थूल इन्द्रियों से नहीं परन्तु अपनी मानसिक, चारित्रिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों से कर सकते हैं। इस प्रकार से हमको वरुण[१] का वह भव्य स्वरूप मिलता है जो कि उस ईश्वर के स्वरूप के समान है जिसमें आधुनिक जनता विश्वास करती है क्योंकि आधुनिक समय में ईश्वर-विश्वासियों के अनुसार वह संसार के चरित्र का नियन्ता और विरोधियों को दण्ड देने वाला है। लेकिन साथ ही साथ उनके प्रति वह करुणहृदय और दयालु भी है जो किए गये कुकर्मों का प्रायश्चित्त करते हैं और क्षमा की याचना करते हैं।

ऋग्वेद और परवर्ती लौकिक काव्य में यह भेद है कि लौकिक काव्य में कल्पना की प्रधानता है जबकि ऋग्वेद में यथार्थता और स्वाभाविकता का प्राधान्य है। वैदिक-काव्य अलङ्कारहीन काव्य नहीं है। उसमें रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा का प्रयोग अत्यन्त मार्मिक ढँग से किया गया है जिसके विषय में अनुसन्धाता के द्वारा इसी अध्याय के प्रारम्भ में विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

१३. **वास्तुकला-** ऋग्वेद के समय में वास्तुकला अत्यन्त विकसित थी। दुर्ग, प्रासाद और भवनों का उल्लेख उसमें किया गया है। धनी और अभिजात व्यक्ति उन दुर्गों, प्रासादों और भवनों में रहते थे जो पत्थर के खण्डों अथवा अन्य कठोर वस्तुओं[२] से बनाये जाते थे। ऐसे अत्यन्त सुन्दर प्रासादों का भी उल्लेख किया गया है जिनकी रचना में लकड़ी का प्रयोग अधिक मात्रा में होता था। यह कहा गया है कि मित्र

---

[१] वही, ७.८९.५

[२] ऋग्वेदसंहिता- ४.३०.२०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तथा वरुण[१] के पास एक ऐसा प्रासाद था जिसमें एक सहस्र स्तम्भ थे।[२] लौहदुर्ग तथा नगरों का भी उल्लेख किया गया है। अनेक रूपों के निवास-स्थानों जैसे गृह[३], हर्म्य[४] आदि का वर्णन उपलब्ध होता है।

१४. **सङ्गीतकला-** ढोल (दुन्दुभि[५]) का उल्लेख वेदों में है। तीन प्रकार के वाद्ययन्त्रों का वर्णन उसमें किया गया है- आघात से बजने वाले जैसे ढोल, तार से बने हुए वीणा और सञ्चार से बजने वाले जैसे बाँसुरी। वेद के मन्त्र स्वयं यह प्रमाणित करते हैं कि उस युग में सङ्गीत का अत्यधिक आदर किया जाता था। वाद्य एवं गेय दोनों रूपों के सङ्गीत का उल्लेख किया गया है । एक वाद्य का नाम कर्करी[६] था जो सम्भवतः वीणा की भाँति होता था। मरुतों[७] के वाद्यों के नाम क्षोणी, वीणा और वाण थे । वेद के कुछ भाष्यकार 'वाण' का अर्थ बाँसुरी[८] लगाते हैं।

१५. **नाट्यकला-** ऋग्वेद में हमें ऐसे सूक्त मिलते हैं जिनमें संवाद अथवा कथोपकथन हैं। ये सूक्त उन सबसे अधिक प्राचीन प्रणाली के रूप में लिखे गये हैं जिसके आधार पर परवर्ती नाट्यकृतियों की रचना सम्भव हुई थी।

सन्त प्रकाश तिवारी
शोधच्छात्र
संस्कृत तथा प्राकृतभाषाविभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ-२२६००७

---

[१] वही, ७.५.३
[२] वही, २.४१.५
[३] वही, ३.५३.६
[४] वही, ७.५६.१६
[५] वही, ६.४७.२९.३१
[६] वही, २.४३.३
[७] वही, २.३४.१६
[८] ऋग्वेद इण्डिया-उद्धृत स्वतन्त्रकलाशास्त्र भाग-१, पृ० ८ ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Vol. 23
January-June 2014

Veda-Vidyā
ISSN-2230-8962

Common Thread Between Science And Vedic Concepts

- Dr. S.R. Verma

Science and spirituality are two complementary aspect of reality – One, the nature of the material world around and the other, the nature of mind observing the world. Science is about manifestation of outside world, spirituality felt within, the inner mind observing the world outside. Spirituality is complete science to look within to achieve ones full potential. It is the qualitative dimensions of quantitative aspect of life.

The search for lower case truth is no less ambitious than the search for a transcend reality that lies beyond the physical world. Should we be going after truths or the truth? The capital 'T', truth defines the essence of reality. Truth is very different from the measurements that science relies upon as it explores fines and finer levels of Nature. Like it or not, the pursuit of the truth is edging us closer to the Truth, as conceived of in Indic Vendanta and Buddhist philosophies. The Universe has a source, it is consciousness. The consciousness is ultimate reality. There is only one consciousness, which pervades existence. Out of primal consciousness all matter and energy in the Universe emerged.

Our consciousness is the window that allows us to perceive all reality. We realise spiritual experience through consciousness. The same consciousness also facilitates harvesting of profound scientific knowledge. So there is the strong possibility that there is a deep, hidden relationship between those two experiential comprehensions.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

DIFFERENT PATHS: PARALLEL QUEST

Rigveda, the oldest scripture of human civilization, declare that truth is only one and sages call it various names. The one that exists is conceived in many ways.

Ekam Sat Vipra Bahuda Vadanti – Rigveda 1-164-46

There are three basic approaches to know the truth.

I. **Scientific approach:** Based on observations and experiments. In science knowledge is acquired through process which contains three stages :

(a) Experiment / Observation

(b) Theory

(c) Application of theory to check its implications.

II. **Philosophical approach :** Based on logic and reasoning, speculations and to know cause and effect of the things. Philosophy means love for knowledge. A Persian poet has defined philosophy in a beautiful way. He compares this universe to an old manuscript of a book of which the first and last pages are missing. It is no longer possible to say how the book began, nor do we know how it is likely to end. Man has been trying to discover these missing pages. Philosophy as the name of this quest and its results.

III. **Mystical (spiritual) approach :** Based on meditative insights : direct realisation of Reality.

Each approach has three basic components :

Knower – process of knowledge – field of investigation.

Observer – process of observing – object.

Common in three approaches : Rational knowledge and intuitive knowledge. Both type of knowledge occurs in each approach.

Information Processing Operation in Conscious System -

The most appropriate model, for a scientific understanding of the stimulus-response behaviour of a fully developed conscious

CC-0. Nepal Sanskrit University. Vyasadevi, Kathmandu Collection

system-man- is a finite state machine automata with the following componerts,

1. **The five sensory organs:** as data acquisition devices.
2. **The sensory nervous system:** for transmission of the data to brain.
3. **Brain:** for information processing & triggering the signal response.
4. **Motor nervous system:** for transmission of response signals to instruments of action.
5. **The instruments of action.**

A living conscious system may exist in the following three distinct states:

a. **Unconscious state:** the system does not respond to environmental stimulation.
b. **Subconscious state:** Stimulus response behaviour is there but without the expression of free will, i.e., the full operation of information processing subsystem is not involved.
c. **Normal conscious system:** the stimulus response behaviour as characterised by free will, is in full operation.

The sensory organs may be conceived as providing the data in the form of sensory quanta, which may be called **photon** (for vision), **phonon** (for sound), **graviton** (for touch) **olefecton** (for smell), and **tasteon** (for taste). Although the photons, phonons and gravitons (in a connotation different from the usual) can be perceived by scientific instruments, the measurement of smell and taste have not been developed to a degree of sophistication that the corresponding quantum can be perceived.

The information processing operation of the brain can be understood with the analogy of the central processing unit of a computer, which transforms the input data into cognizable information. The analogy is this:

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

1. **Preceptor:** Analogous to the central processing unit memory of the compute where the input data are stored for a short time.
2. **Intellect:** Analogous to the analytical programme stored in the computer, which differentiates, correlates and analyses the input data.
3. **Emotent:** Analogous to the operating system of a computer.
4. **Memory:** Long term storage of information.

The operation of perception is the triggering of electrical impulses at the sensory organs by the sensory quanta and their transmission to the perceptor component of the brain. The intellect performs a space time differentiation of the signals and converts them into cognized information elements. It is here that consciousness has a role. The cognized information elements generated by an individual conscious system can be operationally classified into two categories:

Objective cognition: when similar set of sensory data perceived by different conscious system lead to a common set of cognized information elements.

Subjective cognition: . when similar set of sensory data perceived by different conscious system lead to cognized information elements which are not alike for all.

The objective component of cognized information is what is used for the generation of scientific knowledge. The subjective component cannot be utilised the same way, but it does carry useful information about the cognition process in conscious systems. It is apparent that the set of ideas stored in the memory and the nature of operations in intellect, ernotent, perceptor, nervous system and sensory organs have unique distinguishing character, for each, individual conscious system, which results in subjective part of the cognition.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Table : The relationship between different systems of knowledge generation and stimulus response process.

Step of stimulus	System of generation response process	Objective of knowledge
perception	**Vaisheshik Darshan**	knowledge of perceptual phenomena
cognition	**Scientific methods**	knowledge of energy material component of phenomenal world.
evidence	**Nyaya Darshan**	knowledge of self and phenomenal world.
knowledge	**Sankhya Darshan**	knowledge of non-variable elements of self and phenomenal world
behaviour	**Yoga Darshan**	unification of the operation of intellect and emotent

The Fundamental Basis of Ancient Indian Knowledge

The ancient Indian thinkers closely examined the methods of generation of knowledge from the various steps of stimulus-response process of individual conscious systems. Thus Vaisheshik Darshan provides an elegant analysis of the cognition of substances realizable from perception. On the other hand, Nyaya Darshan provides a critical examination of the generation of knowledge from evidence (the objective cognition). The Sankhya Darshan, in contrast, contains the enumeration of non variable elements of the phenomenal world including that of the conscious system. Yoga Darshan represents the elimination of the differences in the operation of the emotent (*mana*) & the intellect (*buddhi*) of individual conscious system by unitying their operation (*yoga*). For this purpose an elaborate system of direct modification of the behavioral response of the mind and the body

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

was developed. Table above outlines what the different Darshans broadly cover.

In the information processing system, perception and its cognition by the brain is the first step; the second step is the communication of this by one conscious system to another through languages of different kinds. The related operation requires the assistance of the memory,and is analogous to the input-output operation of a computer system, which depends on the strength of data in the memory, the set of instructions, and operational programme.

However, we are aware that the discovery of many brilliant scientific theories is due to intuitive origin in the mind of the discoverer; that is a non-sensory origin. We have also seen above that representation of a complex electrical impulse pattern (received from sensory perception) in the language of cognitive gestures also depends on the set of ideas stored in the mind, which have nonsensory origin. A certain part of this total knowledge, which can be verified by consensually agreed experiments of sensory perception, constitutes scientific knowledge. But, what about the rest of the total knowledge?

That individual mind is the primary source of true knowledge was realised by ancient Indian sages and seers. They noted that the root cause of subjective cognition is the difference in the operational characteristics of emotent and intellect. In order to unify the operation of the emotent and intellect, the Yoga Darshan system of mental training was evolved. A Yogic state of superconsciousness was conceived where true (objective) knowledge is revealed in an individual mind. The undistorted communication of this to other conscious systems (in their normal state) requires an unambiguous mode of communication, which could be collectively evaluated. It was for this purpose that the systems of Sankhya, Nyaya and Vaisheshik Darshan were evolved. In particular, the Vaisheshik is

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

the perceptual verification of the revealed knowledge obtained in the state of Yogic superconsciousness.

An Interdisciplinary Study Of Science And Vedic Thoughts -

Before studying the parallels between modern science and Vedic thoughts we have to deal with the question of how we can make any comparison at all between an exact science, expressed in the highly sophisticated language of modern mathematics and spiritual disciplines which are mainly based on meditation and insist on the fact that their insights cannot be communicated verbally.

What we want to compare are the statements made by scientists and Vedic seers about their knowledge of the world. To establish the proper framework for this comparison, we must firstly ask ourselves what kind of 'knowledge' we are talking about. Secondly, what kind of statements are we going to compare? What are we going to select from the experimental data, equations and theories on the one side, and from thie religious scriptures, ancient myths, or philosophical treatisies on the other?

What the Vedic seers are concerned with is a direct experience of reality which transcends not only intellectual thinking but also sensory perception. Knowledge which comes from such an experience is called 'absolute knowledge' because it does not rely on the discrimination abstractions and classifications of the intellect which,we have seen, are always relative and approximate. It is the direct experience of undifferentiated, undivided, intermediate 'suchness'. Complete apprehension of this suchness is the core of Vedic thoughts.

The Vedic seers repeatedly insist on the fact that the ultimate reality can never be an object of reasoning or of demonstrable knowledge. It can never be adequately described by words, because it lies beyond the realms of the senses and of the intellect from which our words and concepts are derived. The scientists are mainly

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

concerned with rational knowledge and with intuitive knowledge, both types of knowledge occur in both fields. This becomes apparent when we examine how knowledge is obtained and how it is expressed, both in science and mysticism.

In science, knowledge is acquired through the process of scientific research which can be seen to proceed in three stages. The first stage consists in gathering experimental evidence about the phenomena to be explained. In the second, the experimental facts are correlated with mathematical symbols and a mathematical scheme is worked out which interconnects these symbols in a precise and consistent way. Such a scheme is usually called a mathematical model or, if it is more comprehensive, a theory. This theory is then used to predict the results of further experiments which are undertaken to check all its implications. At this stage, physicists may be satisfied when they have found a mathematical scheme and know how to use it to predict experiments. But eventually, they will want to talk about their results in non-physicists and will therefore have to express them in plain language. This means, they will have to formulate a model in ordinary language which interprets their mathematical scheme. Even for the physicists themselves, the formulation of such a vabal model, which constitutes the third stage of research, will be a criterion of the understanding they have reached.

In practice, of course, the three stages are not neatly separated and do not always occur in the same order. Rational knowledge and rational activities certainly constitute the major part of scientific research, but are not all there is to it. The rational part of research would, in fact, be useless if it were not complemented by the intuition that gives scientists new insights and makes them creative. These insights tend to come suddenly and, characteristicaly, not when sitting at a desk working out the equations, but when relaxing in the bath, during a walk in the woods, on the beach, etc. During

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

these periods of relaxation after concentrated intellectual activity, the intuitive mind seems to take over and can produce the sudden clarifying insights which give so much joy and delight to scientific research.

If there is an intuitive element in science, there is also a rational element in Vedic mysticism. The degree to which reason and logic are emphasized, however, varies enormously from one school to the other.

The firm basis of knowledge on experience in Vedic knowledge suggests a parallel to the firm basis of scientific knowledge on experiment. This parallel is further enforced by the nature of the mystical experience. It is described in the Vedic traditions as a direct insight which lies outside the realm of the intellect and is obtained by watching rathern than thinking; by looking inside oneself; by observation.

A word of caution should perhaps be added here. The emphasis on seeing in mystical traditions should not be taken too literally, but has to be understood in a metaphorical sense, since the mystical esperience of reality is an essentially non-sensory experience. When the Vedic mystics talk about 'seeing', they refer to a mode of perception which may include visual perception, but which always and essentially transcends it to become a nonsensory experience of reality. What they do emphasize, however, when they talk about seeing, looking or observing, is the empirical character of their knowledge. This empirical approach of Indian philosophy is strongly reminiscent of the emphasis on observation in science and thus suggests a framework for our comparison, The experimental stage in scientific research seems to correspond to the direct insight of the Vedic mystic, and the scientific models and theories correspond to the various ways in which this insight is interpreted.

The parallel between scientific experiments and mystical experiences may seem surprising in view of the very different nature

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

of these acts of observation. Physicists perform experiments involving an elaborate teamwork and a highly sophisticated technology, whereas mystics obtain their knowledge purely through introspection, without any machinery, in the privacy of meditation. Scientific experiments, furthermore, seem to be repeatable any time and by anybody, whereas, mystical experiences seem to be reserved for a few individuals at special occasions. A closer examination shows, however, that the differences between the two kinds of observation lie only in their approach and not in their reliability or complexity.

Anybody who wants to repeat an experiment in modern subatomic physics has to undergo many years of training. Only then will he or she be able to ask nature a specific question through the experiment and to understand the answer. Similarly, a deep mystical experience requires, generally, many years of training under an experienced master and, as in the scientific training, the dedicated time does not alone guarantee success. If the student is successful, however, he or she will be able to 'repeat the experiment'. The repeatability of the experience is, in fact, essential to every mystical training and is the very aim of the mystics' spiritual instruction.

A mystical experience, therefore, is not any more unique than a modern experiment in physics. On the other hand, it is not less sophisticated either, although its sophistication is of a very different kind. The complexity and efficiency of the physicist's technical apparatus is matched, if not surpassed, by that of the mystic's consciousness – both physical and spiritual – in deep meditation. The scientists and the mystics, then have developed highly sophisticated methods of observing nature which are inaccessible to the layperson. Scientists are familiar with direct intuitive insights from their research, because every new discovery originates in such a sudden non-verbal flash. But these are extremely short moments which arise when the mind is filled with information, with concepts and thought

CC-0. Nepal Sanskrit Academy. Kathmandu Collection

patterns. In meditation, on the other hand, the mind is emptied of all thoughts and concepts and thus prepared to function for long periods through its intuitive mode.

When the rational mind is silenced, the intuitive mode produces an extraordinary awareness; the environment is experienced in a direct way without the filter of conceptual thinking. The experience of oneness with the surrounding environment is the main characteristic of this meditative state. It is a state of consciousness where every form of fragmentation has ceased, fading away into undifferentiated unity.

In deep meditation, the mind is completely alert. In addition to the nonsensory apprehension of reality it also takes in all the sounds; sights, and other impressions of the surrounding environment, but it does not hold the sensory images to be analysed or interpreted. They are not allowed to distract the attention.

Vedic mysticism is based on direct insights into the nature of reality, and physics is based on the observation of natural phenomena in scientific experiments. In both fields, the observations are then interpreted and the interpretation is very often communicated by words. Since words are always an abstract, approximate map of reality, the verbal interpretations of a scientific experiment or of a mystical insight are necessarily inaccurate and incomplete. Modern physicists and Vedic seers alike are well aware of this fact.

In physics, the interpretations of experiments are called models or theories and the realization that all models and theories are approximate is basic to modern scientific research. Thus the aphorism of Einstein, 'As far as the laws of mathematics refer to reality, they are not certain; and as far as they are certain, they do not refer to reality.' Physicists know that their methods of analysis and logical reasoning can never explain the whole realm of natural phenomena at once and so they single out a certain group of

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

phenomena and try to build a model to describe this group. In doing so, they neglect other phenomena and the model will therefore not give a complete description of the real situation. The phenomena which are not taken into account may either have such a smal effect that their inclusion would not alter the theory significantly, or they may be left out simply because they are not known at the time when the theory is built.

Studying a limited group of phenomena can also mean studying their physical properties only over a limited range which may be another reason for the theory to be approximate. This aspect of the approximation is quite subtle because we never know beforehand where the limitations of a theory lie. Only experience can tell. Thus the image of classical mechanics was further eroded when twentieth-century physics showed its essential limitations. Today we know that the Newtonian model is valid only for objects consisting of large numbers of atoms, and only for velocities which are small compared to the speed of light. When the first condition is not given, classical mechanics has to be replaced by quantum theory; when the second condition is not satisfied, relativity theory has to be applied. This does not mean that Newton's model is 'wrong', or that quantum theory and relativity theory are 'right'. All these models are approximations which are valid for a certain rarge of phenomena. Beyond this range, they no longer give a satisfactory description of nature and new models have to be found to replace the old ones – or, better, to extend them by improving the approximation.

The Vedic seers, too, are well aware of the fact that all verbal descriptions of reality are inaccurate and incomplete. The direct experience of reality transcends the realm of thought and language, and, since all mysticism is based on such a direct experience, everything that is said about it can only be partly true. In physics the approximate nature of all statements is quantified and progress is made by improving the approximations in many successive steps.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

How, then, do the Vedic seers deal with the problem of verbal communication?

First of all, Vedic seers are mainly interested in the experience of reality and not in the description of this experience. They are therefore generally not interested in the analysis of such a description, and the concept of a well-defined approximation has thus never arisen in Vedic thought. if, on the other hand, Vedic mystics want to communicate their experience, they are confronted with the limitations of language. Several different ways have been developed in India to deal with this problem.

Indian mysticism, and Hinduism in particular, clothes its statements in the form of myths, using metaphors and symbols, poetic images, similes and allegories. Mythical language is much less restricted by logic and common sense. It is full of magic and of paradoxical situations, rich in suggestive images and never precise, and can thus convey the way in which mystics experience reality much better than factual language.

Whenever the Vedic seers express their knowledge in words – be it with the help of myths, symbols, poetic images or paradoxical statements – they are well aware of the limitations imposed by language and 'linear' thinking. Modem physics has come to take exactly the same attitude with regard to its verbal models and theories. They, too, are only approximate and necessarily inaccurate. They are the counterparts of the Vedic myths, symbols and poetic images, and it is at this level that I shall draw the parallels. The same idea about matter is conveyed, for example, to the Hindu by the cosmic dance of the god Shiva as to the physicist by certain aspects of quantum field theory. Both the dancing god and the physical theory are creations of the mind : models to describe their authors' intuition of reality.

The Vedic concepts have always regarded consciousness as an integral part of the universe. In the Vedic view, human beings, like

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

all other life foms, are parts of an inseparable organic whole. Their intelligence, therefore, implies that the whole, too, is intelligent. Human beings are seen as the living proof of cosmic intelligence; in us, the universe repeats over and over again its ability to produce forms through which it becomes consciously aware of itself.

In modern physics, the question of consciousness has arisen in connection with the observation of atomic phenomena. Quantum theory has made it clear that these phenomena can only be understood as links in a chain of processes, the end of which lies in the consciousness of the human observer. In the words of Eugene Wigner, 'it, was not possible to formulate the laws of [quantum theory] in a fully consistent way without reference to consciousness': The pragmatic formulation of quantum theory used by the scientists in their work does not refer to their consciousness explicitly. Wigner and other physicists have argued, however, that the explicit inclusion of human consciousness may be an essential aspect of future theories of matter.

Such a development would open exciting possblities for a direct interaction between physics and Vedic concepts. The understanding of one's consciousness and of its relation to the rest of the universe is the starting point of all mystical experience. The Vedic seers have explored various modes of consciousness throughout centuries, and the conclusions they have reached are often radically different from the ideas held in the West. If physcists really want to include the nature of human consciousness in their realm of research, a study of Upanishads may well provide them with stimulating new viewpoints. Vedic science is the total science. It uncover the knowledge of the total potential of natural laws and human awareness. Vedic teaching contain the rule of law (*Rta*) that only govern the Universe, but is also reflected in the lives of living beings. Vedas declare that truth is only one and sages call it by various names. The one that exists is conceived in many ways (Rig 1-164-46). Today, Science and Vedic

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

religious seem to be saying the same ting. Recent scientific discoveries seem to validate introduction to the studies of vedic literature in light of scientific approach.

In the matter of Vedic interpretation we convinced that Swami Vivekanand has given his clues to right understanding of inner meaning of Upanishads. He has found the keys of the doors that time had closed and rent as under the seals of imprisoned fountain. We can take Maharishi Dayanand teaching as our basis to start. Swami Vivekanand has used the philosophical, scientific and the etymological method in his interpretation. He has also used the intuitional method which our ancient sages employed, wherever necessary.

ONENESS PRINCIPLE

Can one be a person of both devotion and science? Is there room in a universe of inherent quantum uncertainty for the presence of a establishing force? Is there an architect behind the magnificent structure we call natural law? The answer to all of these questions could be 'yes'

Science and spirituality are indeed two sides of the same coin. Our consciousness is the window that allows us to perceive all reality. We realize spiritual experience through consciousness. The same consciousness also facilitates harvesting of cherished and profound scientific knowledge. So there is the strong possibility that ther is a deep, hidden relationship between those two experiential comprehensions.

How do we bring together the apparently disparate perceptions garnered by our consciousness so that we reconcile science and spirituality? See things in an entirely new ligh. But because of the counter-intuitive ideas and esoteric maths involved in recent mind-expanding revelations in quantum physics and cosmology, the implications have not yet permeated public awareness.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Consider the following evidence:

This underpinning of our daily world is significantly different form what we see as reality. Paradoxically, the primary aspects of our existence are totally abstract.

This unimaginably vast universe came from a tiny nugget of space much, much smaller than even an atom.

The total energy of this enormous, busy universe is, has been, and always will be zero.

The immensely huge cosmos is amazingly consistent. The same natural laws apply in every corner of the universe.

Despite nature's seemingly immense diversity, science is ever coming closer to proving that all that exist derives from a single source.

Despite the built-in quantum uncertainly in the bedrock of reality and all the chaos in our daily world, the universe fundamentally appears to be an orderly place.

The above seem to indicate the existence of a higher power providing a guiding hand. If there was no purpose for this universe or our lives, if there was nothing guiding this entire universe, why then is everything not just in utter disorder, rather than being so exquisitely coordinated on an unimaginably vast scale?

One could argue this mystery away by presuming that there are innumerable other universes, each with different possibilities of natural laws and other factors. Our universe merely happens to be the one that where every – thing is "just right" for the elegantly systematic works that allow for the emergence of intelligent beihgs like us. The problem with such a line of reasoning is that there does not appear to be even a hint yet of a possibility of validating the existence of any other universe than the only one we know.

Our scientific knowledge thus seems to support the belief in a higher power that is at the core of all spiritual traditions. Problems

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

arise only when the higher power is conceived as a person or gets mixed up with detrimental superstitions.

Some scientists now go boldly where very few have gone before. Roger Penrose and Albert Einstein wondered why the universe has developed in obedience to laws that our consciousness seems designed to grasp. Could this imply that our consciousness is a fundamental reality that is intertwined with the universe and the higher power behind it? In the backdrop of recent scientific discoveries, it could be asserted that man and Creator indeed comprise an inseparable oneness. Perceiving ourselves as part of this much larger entity appears necessary for an abiding happiness.

CONCLUSION -

Spirituality is quest for the ultimate reality, the unity of existence beyond endless pluralities of manifestation. Science usually concerns real nature of the physical universe within space-time-causality. In its parallel quest for ultimate reality physical sciences are crossing the barriers of physics, entering the domain of metaphysics. Even scientist Stephen Hawking says: "I think that time, space and everything else are really in us. They are just mathematical models we have made to describe the universe". Now the object and the observer scientist, knower and the knowable, are mingling together in a probability-wave of pure consciousness; a mathematical abstraction.

The new physics has come to believe that matter and energy as well as space-time are related to the human. The term subjective and objective have to be discarded to give way to an omnijective concept of reality – Reality itself is being transformed to a holistic rather than a mechanistic paradigm and viewed as a super hologram that consciousness creates for itself. Thus the entire space time matrix of the physical universe owes its very existence to consciousness. All energy is a sign of activity and activity inherent in consciousness.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Vedanta defines the ultimate as Infinite Consciousness, which is the self-willed cause and element of creation within space-time-causality. The ever-transforming creation is only apparent and not real. Everything animate or inanimate is interpreted by all pervading consciousness through energy vibrations. All that appears to be finite has the Infinite as the ultimate source and resort and everything is fundamentally connected by the common essence of cosmic vibration and consciousness. Infinite Consciousness first manifested itself through the principle of cosmic energy or prana expressed as light.

Modern physics has dissolved atoms or subatomic events into oceanic fields of dynamic energy. The traditional concept of space-time, isolated objects, and causality have lost their significance. Jack sarfatti writes, "Matter is nothing but gravitationally trapped light". He also felt that at primordial level it is impossible to differentiate among light, matter, and empty space. Matter floats as quanta of energy on the surface of an ocean of cosmic energy. Scientists are also dreaming of a total unification of all energies through the Grand Unification Theory.

Bell's theorem has shown that the universe is so fundamentally interconnected that twin photon pairs always instantaneously communicate with each other irrespective of astronomical distance. Roger Penrose contemplates a 'state of singularity or unity of space, time and everything else before creation through Big Bang which echoes the second verse of Nasadiya Sukta of the Rig Veda that One without vibration began to vibrate by its Own power and other than That there was nothing beyond.

Consciousness is emerging as the indispensable factor in quantum physics and neurophysiology. Max Planck held that matter is derived form consciousness. Schrodinger said that consciousness is the real substratum of all matter and it is always singular. It has no location and uses brain as the receptor mechanism. The wave

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

equation of Schrodinger represents a world of multidimensional reality and validates that the world is a projection of mind. Explorations into the mystery of the universe have become a spiritual passion with many. The traditional matter and matter, mind and creation and creator differentiation stand fused in a holistic background of all pervading consciousness contemplated in non-dualistic spirituality. Science could ultimately emerge as the science of consciousness in tune with the essence of spirituality.

-Dr. S.R. Verma
2 Aketa Avenue, Rajpur Road,
Dehradun (Uttarakhand)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Vol. 23
January-June 2014

Veda-Vidyā
ISSN-2230-8962

Importance of Animal – as reflected in Veda

Smt. Chaitali Kanjilal

Animal is one of the most important biotic elements of the environment. That an animal plays an essential role for keeping ecological balance is a well known fact. Despite knowing this fact people often forget to reckon the contribution of the animals in generating environmental beauty and stability. Moreover, today in 21st century fast life motivates one to make his life more cheerful and comfortable. For this purpose one destroys greenery heartlessly. For this indiscreet activity, the animals and birds are affected a lot. They are loosing their normal life and compel to live in sanctuary. And obviously this situation compels us to think about our Vedic age. The present paper attempts to demonstrate the importance of animals as reflected in the Vedic society.

It is our basic instinct to keep ourselves safe. Taking care of natural phenomena is expected to be an inevitable responsibility to carry on our safe and secured everyday life. But alas! It is an irony of fate that the most rational creature of the world, the human being with a fervent yearning of leading a so called happy life performs the most irrational act of destroying the natural phenomena. And today if anyone takes care of flora and fauna, it becomes news headline because now-a-days an essentially normal behaviour or responsibility becomes so rare that it expects the credit of a great job.

But there was a time when people used to think about taking care of the nature as an essential act. In Vedic age from the seer to common man everybody was conscious to protect the

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ecological balance. The germ of the concept of *tapovana* was incorporated in the Vedic social and religious practices, which it noticed to be flourished in the later literary works. *Tapovana* was an open and safe space for animals. A picture of an intimate bondage between human being and natural phenomena could be found in the description of the *tapovana*-s.[1]

Vedic people considered animals as assets (*saṃpad*). In *Yajurveda* mention of both the domestic and wild animals could be noticed. There is a number of *sūkta*-s in Veda, where eagerness of the then people for protecting their beloved animals could be read between the lines. The dwellers regard the animals as their *sahodara* or *apatya*. They were always worried about keeping their beloved animals safe. And for this purpose they prayed to their deities.

Rudra and Pūṣan were the most prominent among the Vedic deities, who were believed to be the protector of the animals. The Vedic seer prays to Rudra to keep people happy along with their dear animals,- **śaṃ naḥ karatyarvate sugaṃ meṣāya meṣye|**
nṛbhyo nāribhyo gave (ṚV 1|43|4)

Rudra is mentioned as the lord of animals,- *prājāpatyā vai paśavas teṣāṃ rudro 'dhipatiḥ|* (Tai.S. 3|3|1|3).

Rudra is noticed to be prayed for keeping all the creatures healthy,-

imā rudrāya tavase|
***yathā śamasadvipade catuṣpade viśvaṃ puṣṭaṃgrāme asminnanāturam|* (ṚV 1|114|1)**

[1] *Cf.* nīvārā śukagarbhakoṭaramukhabhraṣṭās tarūṇām adhaḥ prasnigdhā kva cid iṅgudīphalabhidaḥ sūcyantaḥ evopalāḥ/ viśvāsopagamād abhinnagatayaḥ śabdaṃ sahante mṛgās toyādhārapathāś ca valkalaśikhānisyandarekhāṅkitāḥ// (Abhi. Śā. 1/14)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

An attempt of keeping the animals from natural erosion is also suggested here.

Pūṣā-Sūkta is also notable. *Pūṣan* is described as the 'Herdman'- *pūṣan nanu pra gā ihi yajamānasya* ... (TS 6|54|5). Hillebrandt told that the description of the *Ṛgveda* reveals *Pūṣan* as herdman who protects animals from injury and from getting lost – *punar no naṣṭam ājatu* (ṚV 6|54|10).

Bhūmi-Sūkta (AV 12.1) is also a brilliant example of human awareness about animals. It is also a luminous example of the greatness of Vedic seers. Here Ṛṣi Atharvā asked *Bhūmimātā* for giving a wide place, where not only human being but also the animals, birds can live safely, comfortably –

yasyāṃ pūrve pūrvajanā vicakrire
yasyāṃ devā asurān abhy avartayan |
gavām aśvānāṃ vayasaś ca viṣṭhā
bhagaṃ varcaḥ pṛthivī no dadhātu‖ (AV 12|1|5)

It has also been said,-

ye te āraṇāyāḥ paśavo mṛgā vane hitāḥ siṃhā vyāghrāḥ puruṣādaś caranti|
ulaṃ vṛkaṃ pṛthivi ducchunām ita ṛkṣīkāṃ rakṣo apa vādhayāsmat‖ (*Ibid.* 12|1|1|49)
or *tvaj jātās tvayi caranti martyās tvaṃ bibharṣi dvipadas tvaṃ catuṣpadaḥ| (Ibid.* 12|1|15).

Animals in Vedic literature are represented with some other performances. Sometimes they are noticed to act as riding animals or messengers of the Vedic deities. Sometimes the animals are found also to be worshipped by the people. Is not it an indication to suggest the value of the animals?

In *Pūṣā-Sukta*, the goat is depicted as a riding animal of *Pūṣan – ajāśvaḥ paṣupā rājapastyo dhiyaṃ jitvo bhuvane viśve arpitaḥ‖* (ṚV 6|58|2). Yama, the deity of death is very special

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

among the deities for having three messengers. In *Yama-Sūkta* the owl and two dogs are described as Yama's messengers,-

yau te śvānau yama rakṣitārau
caturakṣau pathirakṣī nṛcakṣasau|
tābhyām enaṃ pari dehi rājant
svasti cāsmā anamīvaṃ ca dhehi‖ (*Ibid.* 10|14|11)

The seven rays of the sun, the Śūrya have very aesthetically been represented as seven horses, the chariot-puller of the lord. In *Sūryasūkta*, we see,-

bhadrā aśvā haritaḥ sūryasya
citrā etagvā anumādyāsaḥ|
namasyanto diva ā pṣṭham asthuḥ
pari dyāvāpthivī yānta sadyaḥ‖ (*Ibid.* 1|115|3)

Therefore, Ṛṣi Sadapṛn refers Sūrya as,- *ā sūryo cātu saptāśvaḥ* (*Ibid.* 5|45|9).

Another aspect of regarding animals is that the zoo-morphic features are utilized in depicting the physical outlook of a few Vedic deities. The most prominent among them are the famous twin deities, the physicians, *Aśvinīkumāra*-s.

Vedic dialogue hymns also suggest the attitude of Vedic people of being concerned about the flora and fauna. In *Paṇi-Saramā-sūkta* (*Ibid.* 10|108), Saramā, a faithful dog has been represented as the messenger of Lord Indra. In the Ūrvasī-Purūravā-sūkta (*Ibid.* 10|95), Purūravā is seen to speak with the swans.

The ritual called *Bhūtayajña* among the *Pañcamahāyajña*-s, illustrated in the *Brāhmaṇa* literature should be reckoned in the context of Vedic processes of the maintenance of the animal-wealth.

An interesting concept defending the destruction of animal-wealth has been suggested in *Chāndogyopaniṣad*,-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ta iha vyāghro vā siṃho vā vṛko vā varāho vā kīṭo vā pataṅgo vā daṃśo vā maśako vā yad yad bhavanti tadā bhavanti| (Chā.U. 6|9|3).

Bṛhadāraṇyakopaniṣad suggests offering *tṛṇodaka* to birds and beasts as a duty,-

yat paśubhyos tṛṇodakaṃ vindati tena paśūnāṃ tad asya gṛheṣu śvāpadā vayāṃsyā pipīlikābhya upajīvanti tena teṣāṃ loko... (Bṛ.U. 1|4|16).

Though a moral of protecting animal-wealth was known to the Vedic people, they could not keep themselves free from committing the sin of killing animals. But at least, they are supposed to feel guilty if such sins were committed. The Vedic *mantra*-s prayed to get rid of them are the evidences of the same. E.g., yo vām indravaruṇā dvipātsu paśṣu snāmastam vāme tanāvayaja ityāhaivatīr vā āpa oṣadhayo vanaspatayaḥ prajāḥ paśavā upajīvanāyās mā evāsmai varuṇapāśān muñcati| (TS 2|3|23)

In later ages utilization of animals in Vedic sacrifices became an issue of great controversy. In this regard, my humble submission is that when a Yajamana aspires to personify himself with the animal to be offered to a deity, whether it implies any rudeness at all to animal-wealth, or rather it indicates esteem to the same?

Smt. Chaitali Kanjilal,
M.A. in Sanskrit,
The University of Burdwan, WB

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Vol. 23
January-June 2014

Veda-Vidyā
ISSN-2230-8962

Water, The Elixir Of Immortality Quotes From Veds And Purans

RAHUL VERMA

The Veds are the oldest (around 6500 BC) monumental scriptures and represent fountain of wisdom and knowledge in prehistoric India. Water has been regarded as the first and the foremost element in the Veds, which is the original source that gave rise to the evolution of the universe. Water, or the water element, has been vividly addressed in the Veds (Rig-Ved, Sam-Ved, Yajur-Ved and Atharv-Ved) and other ancient literature (Brahmans, Upanishads, Smritis, Samhitas, Aranyaks, and Purans) abundantly.

Every living and non-living body is made up five basic, gross elements of Nature, called 'Panchamahabhuta'. Among the five basic elements (Bhutas) - Ether or Space or Firmament (Akash), Air (Vayu), Energy or Fire (Tej or Agni), Water (Aapah) and Earth (Prithvi), water occupies the highest place.

Atharv-Ved (3:13:6), prays the prime significance of water- "The ability to see, hear and speak, are useless in the absence of adequate water. Water is the basis of life. Most life forms are born in water and live in it. O! Water stream come near me. You are the Elixir of immortality".

Indra, the god of water and heaven, is regarded as the most powerful of all gods, again, signifying the prime importance of water in Vedic period. Maruts are known as the god of winds and Aryaman, Mitra, Varun and Som are known as the facilitators of water.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

The Rig-Ved hymn RV6.70.4-5.2 describes Dyava Prithvi (Heaven and Earth) as decorated with ornaments of water, abundantly blessed with love of water, and as conservator of water.

According to the "Brahmanda Puran (Poorvardh 24.26-30), the sun is called "Sahasrarashmi" (having thousand rays).It is further divided into three significant groups: "Vristisarjana" or "Amrita" (causing rain), "Gharmasarjana" (Causing heat) and "Himsarjana" (causing snow).

Atharv- Ved regards the earth (Prithvi) as lying hidden in the heart of a vast ocean. It probably refers to the "Pangaea" and "Panthalasa "relationship. In "Brihadaranyakopanishad (II. 3.3), the ratio of the land and water has been put as 1:2 that is almost approximate to the modern calculation. Garun Puran (54.4) describes earth as floating on the water like a sailing boat, probably indicating the plate motion. Vayu Puran (24.8, 26.7) mentions "Ekarnava" when all the oceans intermingle in one another at the close of every "Manavantra" (probably, the reunion of all continents).

Ved Hymn RV1.161.14 invites the Maruts (the god of wind) to create rain bearing conditions and showers on the earth. "Sons of Strength, the Maruts, awaiting your arrival advances from the sky, Agni comes from the Earth, the winds traverses from the firmament, and Varun comes with undulating waters (clouds)". The hymn pictures the clear understanding of formation of clouds and rainfall through the hydrological cycle, during the Vedic period.

Rishi's in all the four Veds highly regard water as the form of god. The sage in Yajur -Ved pray "O Water, thou art the reservoir of welfare and prosperity, sustain us to become strong. We look up to thee to be blessed by thy kind

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

nectar on this earth. O Water, we approach thy to get rid of our sins"

The Rig-Ved Hymn (RV 10.75.2, 4, 7), signifies the importance of river. "The straight-flowing, white coloured, bright-shining river moves along with her ample volumes through the realms; the inviolable river, most efficacious and speckled like a horse, is beautiful as a comely maiden".

Atharv-Ved (verse XIX.2.1-2.2) classifies rivers into "Haimavatih" (originated from glaciers), "Utsyah" (originating from springs), "Nishyandah" (originating from small streams), "Anupyah" (originating from streamlets) and "Dhanvanyoh" (Desert rivers).

Ramayan and Mahabharat epics, also mention about the Ganga, Yamuna, Kalindi, Saryu and Narmada. Among the rivers of present North Eastern India, Ramayan period quotes reference of Lohiyta (Lohit/Brahmaputra) and Kalmahi (Kalni/Barak).

Water conservation for Social Welfare has also been highlighted in Rig-Ved and Atharv-Ved. Rig Ved verses 1.12.18, 1.23.18, 5.32.2 ,refer to use of water from rains, rivers, wells, ponds etc. for agriculture, domestic and or other purposes with wisdom and efficiency. To meet the obligations towards the society, Rig-Ved stresses the need of construction of artificial canals to irrigate desert areas by deploying skilled persons (engineers).

Atharv-Ved Hymn 2.23.1, 6.100.2, 7.11.1 describes the objectives of water conservation through efficient use of available water resources and its conservation. It prescribes the learned men to provide water in the desert areas by wells, ponds, canals etc. and to take precautionary and preventive measures against the droughts, floods and natural calamities in advance.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

It is a well documented and proven fact that the ancient philosophers and sages had identified water as the most important and inevitable element for the existence and survival of life in the universe. Apart from simple livelihood needs for the human beings, water is the nectar for performing religious rituals and social ceremonies, for purification of body and soul. The rivers are worshipped like goddesses, and considered sacred and the waters in rivers are treated as holy. River water is often described as life sustaining, medicinal, as ambrosia, cleanser of sins and are highly regarded as divine, protectors and blissful. This rich heritage of Indian culture is passing on since ancient Vedic times till today and shall continue to cherish till eternity....as long as the water flows on the planet earth.

INTRODUCTION -

Water has been regarded as the first and the foremost element in the Veds, which is the original source that gave rise to the evolution of the universe. Water, or the water element, has been vividly addressed in the Veds (Rig-Ved, Sam-Ved, Yajur-Ved and Atharv-Ved) and other ancient literature (Brahmans, Upanishads, Smritis, Samhitas, Aranyaks, and Purans) abundantly.

Every living and non-living body is made up five basic, gross elements of Nature, called 'Panchamahabhuta'. Among the five basic elements (Bhutas) - Ether or Space or Firmament (Akash), Air (Vayu), Energy or Fire (Tej or Agni), Water (Aapah) and Earth (Prithvi), water occupies the highest place.

WATER ASTHE BASIS OF CREATION: QUOTES FROM VEDIC TEXTS

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Water: The Womb of Creation

Rig Ved gives an account of the beginning of the universe. In the beginning there was neither beginning, nor end, neither day nor night, no atmosphere, no sky. There existed only the "Self born".

Upanishads describe that in the beginning the "death" concealed all. The earth has originated from water that was produced after the worshipping of death (Brihadaranyakopanishad.1.2.1-3).

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत !

श्रोत्रादिबुद्धध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमास्तदासीत.[1]

Prime Significance of Water

Atharv Ved signifies the prime importance of water and addresses water as the "Elixir of Immortality".

"The ability to see, hear and speak, are useless in the absence of adequate water. Water is the basis of life. Most life forms are born in water and live in it. O! Water stream come near me. You are the Elixir of immortality".

Atharv-Ved (3:13:6)

Ornamentation of Water

In the Rig Ved (RV6.70.4-5.2), the impact of water on the Earth and Heaven, is expressed as -

"Dyava Prithvi (Heaven and Earth) are decorated with ornaments of water, abundantly blessed with love of water, and as conservator of water."

Origin Of Rain & Snow

According to "Brahmand Puran" (Poorvardh 24.26-30) Rain is considered as "Amrit" (Nectar). All the rain is

[1] बृहदारण्यकोपनिषद् १३-१.२.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

controlled by the Sun. Sun is called as "Sahastra Rashmi" (having 1000 rays. These rays are further classified into:-

Vristisarjana (Causing Rain)---------400 rays

Gharmasarjana (Causing heat)------300 rays

Himsarjana (Causing snow)---------300 rays

Pangaea and Panthalasa Relationship

The Plate Tectonic reconstruction has revealed that during the Precambrian Era, all continents were united as one mega landmass called "Pangaea", which was surrounded by a vast ocean known as "Panthalasa" Interestingly, the position of "Pangaea" on the Earth in the beginning, was compared with the position of heart in the human body.

Atharv Ved (Atharv.XII.1.8) regards the earth (Prithvi) as lying hidden in the heart of a vast ocean. It probably refers to the "Pangaea" and "Panthalasa relationship (Fig.1).

Concept of Plate Tectonics

Garun Puran (54.4) describes earth as floating on the water like a sailing boat. (Probably, indicating the plate tectonics). This concept is the nothing but the explanation of movements of lithospheric plates over the semi viscous "asthenosphere" under the influence of mantle convection current (Fig.2).

Reunion of all continents

The modern theory of plate tectonics states that the plate motion is a uniform and continuous process in the Earth's cycle. Creation and destruction of plates is repetitive and cyclic process. It is very likely that in a future of Earth's process, all the continents may reunite and result in the reunion of "Pangaea".

The very concept of reunion of Pangaea is described in "Vayu Puran" (24.8, 26.7) as "Ekarnava", and this process is supposed to be repeated at close of every "Manavantra" (when all the seven oceans will intermingle into each other).

Knowledge of Land & Water Ratio

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

According to the "Brihadaranyakopanishad (II. 3.3), the ratio of the land and water has been put as 1:2. As a matter of fact, it matches with the modern calculation.

तां समंत पृथिवी द्विस्तावतसमुद्रम पर्येति[1]

Knowledge of Hydrological Cycle

The Vedic seers had concrete knowledge of 'hydrological Cycle". Agni (Evaporation), Varun (Clouds) and Maruts (Monsoon Winds) are the gods responsible for the hydrological cycle. This concept is well expressed in the following hymn-

"Invite the Maruts (the god of wind) to create rain bearing conditions and showers on the earth. "Sons of Strength, the Maruts, awaiting your arrival advances from the sky, Agni comes from the Earth, the winds traverses from the firmament, and Varun comes with undulating waters (clouds)". Rig Ved.161.14

Cloud Formation

Conversance of cloud formation is well reflected in the work of Kalidas's Poorvameghdootam.

धूमज्योति: सलिलमरुतां सन्निपात: क्व मेघ:[2]

Brahmand Puran (22.36-40) gives an account of types of clouds. "Pakasya" are clouds originated on the windward sides, causing excessive rain."Pundra" clouds cause snow fall on the Himavats (Himalaya).Another cloud types are "Jimuta" and "Pushkarvarta" ("Cirrus clouds") and "Varshamegha" ("Nimbus clouds).

The Importance of River

"The straight-flowing, white coloured, bright-shining river moves along with her ample volumes through the realms; the inviolable

[1] बृहदारण्यकोपनिषद् २.३.३.

[2] पूर्वमेघदूतम् ५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

river, most efficacious and speckled like a horse, is beautiful as a comely maiden".

Rig-Ved (RV 10.75.2, 4, 7)

Knowledge of Origin of Rivers

In Veds, Indra has been designated as the god of rivers and rains. Atharv Ved presents a classification of rivers on the basis of their origin. The rivers are classified as -

Haimavatih ----Originating from Glaciers.
Utsyah ------ Originated from springs.
Dhanvanyoh ------ Originated from Desert.
Anupyah ------- Originated from Streamlets.

Such a detailed classification of rivers reflects the strong knowledge of geographical facts in the Vedic times.

शं त॒ आपो॑ हैमव॒तीः शमु॑ ते सन्तू॒त्स्याः ।

शं त॒ आपो॑ धन्व॒न्याः॒ शं तै॑ सन्त्वनू॒प्याः ।

Atharv XIX.2.1

शं त॒ आपो॑ धन्व॒न्याः॒ शं तै॑ सन्त्वनू॒प्याः ।

Matsya 115.19

References of Rivers

Ramayan and Mahabharat epics clearly mention about the Ganga, Yamuna, Kalindi, Saryu, Narmada, Godavari, Krishna and "Sapta Sindhu" (Fig.3). Rig Vedic texts explain the origin of Ganga River from the glacier of Himalaya, hence it is also known as "Haimavatih". Yamuna originates from Kalinda mountain and thus known as "Kalindi". The original habitat of Aryans is well known as "Sapta Sindhu" Pradesh (the region of seven rivers).

Rivers of peninsular India like Krishna, Godavari and Cauvery etc are referred to as "southern rivers" in the Vedic texts. Among the

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

North Eastern rivers- there is reference of Lohiyta (Lohit/Brahmaputra) and Kalmahi (Kalni/Barak).

Concept Of Water Conservation And Engineering Marvel -

The concept of water conservation and optimum utilization has been beautifully explained and it reflects the farsightedness of the Vedic seers. Water conservation for Social Welfare has also been highlighted in Rig-Ved (Rig Ved. 1.12.18, 1.23.18, 5.32.2), under the following heads-

To be used with wisdom and efficiency.
To be utilized from rains, rivers, wells, ponds etc.
To be used for agriculture, domestic and or other purposes.
To be used to meet the obligations towards the society.
To construction artificial canals to irrigate deserts.
To deploy skilled persons (engineers) for such needs.

The Vedic people were skilled enough to construct wells and canals, as reflected from the above mentioned text. "Ramayan" mentions the excellence of engineering constructions. The reference of construction of "Ram Setu" (Adam's Bridge), between India and Lanka (Lanka Kand), throws the light upon the knowledge of engineering excellence in the "Ramayan Period". The satellite imagery obtained has proved the existence of the "Ram Setu" (Fig.4).

RIVERS AS GODDESS

"O Water, thou art the reservoir of welfare and prosperity, sustains us to become strong. We look up to thee to be blessed by thy kind nectar on this earth. O Water, we approach thy to get rid of our sins"

Yajur -Ved prayer

This Yajur-Ved prayer truly highlights the high and heavenly position of rivers in the Vedic culture. The rivers are worshipped like

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

goddesses, and considered sacred and the waters in rivers are treated as holy. The oldest living city of the World-Varanasi, situated on the bank of Ganga, and Rishikesh- Haridwar, are considered as the holy seats of Mother Ganga. The daily worshipping of 'Goddess Mother Ganga" is an age old tradition that is practiced for a long time.

CONCLUSION -

It is a well documented and proven fact that the ancient philosophers and sages had identified water as the most important and inevitable element for the existence and survival of life in the universe. Apart from simple livelihood needs for the human beings, water is the nectar for performing religious rituals and social ceremonies, for purification of body and soul. The rivers are worshipped like goddesses, and considered sacred and the waters in rivers are treated as holy. River water is often described as life sustaining, medicinal, as ambrosia, cleanser of sins and are highly regarded as divine, protectors and blissful. This rich heritage of Indian culture tradition of worshiping water is passing on since ancient Vedic times till today and shall continue to cherish till eternity....as long as the water flows on the planet earth.

RAHUL VERMA
Department of Geology,
Pachhunga University College, Aizawl, Mizoram

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की सूची

1.	भोजदेवविरचितं सरस्वतीकण्ठाभरणवैदिकव्याकरणम्	मूल्य 400/–
2.	इश्यूज इन वैदिक एस्टानामी एण्ड एस्टालॉजी (अंग्रेजी)	मूल्य 120/–
3.	माध्यन्दिन क्रमपाठः (मूल)	मूल्य 250/–
4.	द एनसिलरी लिटरेचर ऑफ द अथर्ववेद (अंग्रेजी)	मूल्य 300/–
5.	वेद का अर्थ (अंग्रेजी एवं हिन्दी)	मूल्य 30/–
6.	वैदिक साहित्य (अंग्रेजी एवं हिन्दी)	मूल्य 30/–
7.	लेआउट फॉर डिफरेन्ट सक्रीफाईसेज (अंग्रेजी)	मूल्य 200/–
8.	वैदिक वाङ्मय में विज्ञान (हिन्दी)	मूल्य 200/–
9.	चार शुल्ब सूत्र (हिन्दी)	मूल्य 320/–
10.	द कान्सेप्ट ऑफ पुरुषार्थ (अंग्रेजी)	मूल्य 185/–
11.	वैदिक शिक्षा पद्धति (हिन्दी)	मूल्य 270/–
12.	वैदिक सिम्बोलिज्म (अंग्रेजी)	मूल्य 795/–
13.	काण्व–शतपथम् (मूल संस्कृत)	मूल्य 750/–
14.	ग्लिम्पसेज ऑफ वैदिक लिटरेचर (अंग्रेजी)	मूल्य 160/–
15.	वराहमिहिर–विरचित–पंचसिद्धान्तिका (अंग्रेजी)	मूल्य 350/–
16.	वैदिक इतिहास एवं पुरातत्त्व की अद्यतन प्रवृत्तियाँ	मूल्य 135/–
17.	गौतम ऋषियों का वैदिक वाङ्मय में योगदान	मूल्य 120/–
18.	ऋग्वेदीय दर्शन एवं प्रमुख दार्शनिक सूक्त	मूल्य 220/–
19.	ब्राह्मण ग्रन्थों में आचार–दर्शन	मूल्य 250/–
20.	वेद मीमांसा (भाग–1) (मूल वंगला का हिन्दी अनुवाद)	मूल्य 220/–
21.	वेद मीमांसा (भाग–2) (मूल बंगला का हिन्दी अनुवाद)	मूल्य 245/–
22.	वेद मीमांसा (भाग–3) (मूल बंगला का हिन्दी अनुवाद)	मूल्य 360/–
23.	वैदिक खिलसूक्त मीमांसा	मूल्य 225/–
24.	वैदिक अनुष्ठानों का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	मूल्य 140/–
25.	वैदिक वाङ्मय में महर्षि कात्यायन का योगदान	मूल्य 175/–
26.	वैदिक शिक्षा के आदर्श एवं मूल्य	मूल्य 165/–
27.	सामवेदीय साहित्य संस्कृति कला और धर्म दर्शन	मूल्य 250/–
28.	अश्वमेथ विवेकः	मूल्य 150/–
29.	वेदाज द सोर्स ऑफ अल्टीमेट साइंस	मूल्य 300/–
30.	वैष्णम आगम के वैदिक आधार	मूल्य 200/–
31.	अथर्ववेदीय परिशिष्ट ग्रन्थों का परिशीलन	मूल्य 175/–
32.	नाट्यशास्त्र का वैदिक आधार	मूल्य 175/–
33.	श्री सायणाचार्य एवं पं. श्रीपाद दामोदरसातवलेकर कृत वेदभाष्यों का तुलनात्मक अनुशीलन	मूल्य 290/–
34.	अथर्ववेदीय दर्शन	मूल्य 450/–
35.	आर्य एवं आर्य संस्कृति	मूल्य 150/–
36.	अमूर्त वैदिक देवता	मूल्य 165/–
37.	सर्ववेद रुद्राध्याय संग्रहः	मूल्य 230/–
38.	होलिस्टिक अप्रोच ऑफ द वेदाज	मूल्य 320/–
39.	महामहोपाध्यायचिन्नस्वामिशास्त्रिणां जन्मशताब्द स्मारक ग्रन्थः	मूल्य 350/–
40.	अथर्ववेदीय व्रात्यसूक्त	मूल्य 100/–
41.	बाष्कलमन्त्रोपनिषद्	मूल्य 75/–
42.	मूल्याध्याय परिशिष्टम्	मूल्य 75/–
43.	शाङ्खायनशाखीयो रुद्रपाठ संग्रहः	मूल्य 50/–
44.	शाङ्खायनशाखीया ऋग्वेदसंहिता (1-4)	मूल्य 2000/–
45.	उणादिनिरुक्तिव्युत्पत्तिकोषः	मूल्य 400/–
46.	वेदभाष्यम्: निरुक्ति–व्युत्पत्ति–बृहत्कोषः	प्रकाशनाधीन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन

वेद पाठशालाएँ तथा गुरु-शिष्य परम्परा इकाइयाँ

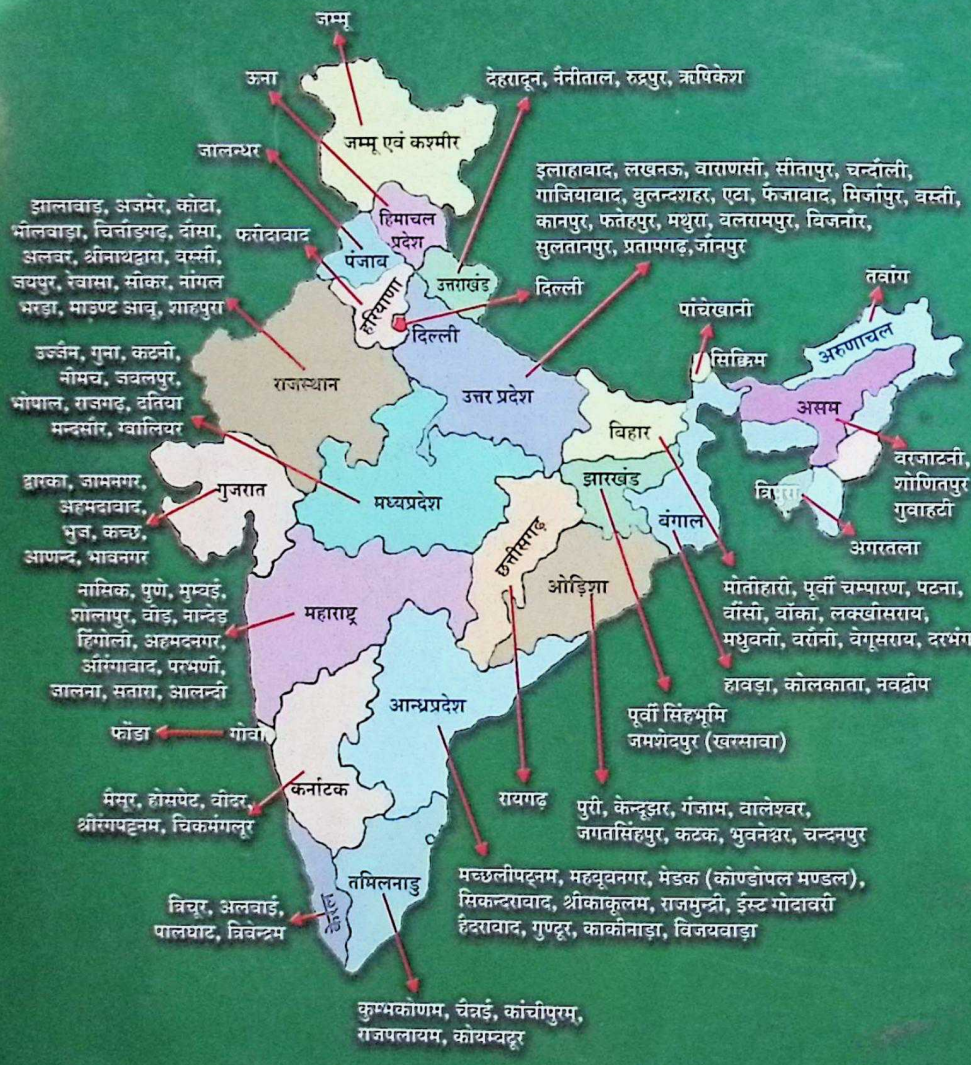

ISSN 2230-8962

Maharshi Sandipani Rashtriya Vedvidya Pratishtan
(Under the Ministry of HRD, Govt. of India)
Vedvidya Marg, Chintaman Ganesh, Post. Jawasia, Ujjain 456006 (M.P.)
Phone 2502266, 2502254 Fax : 0734-2502253
E -mail - msrvvujn@gmail.com Web - msrvvp.nic.in

CC-0. Nepal Sanskrit Academy. Kathmandu Collection